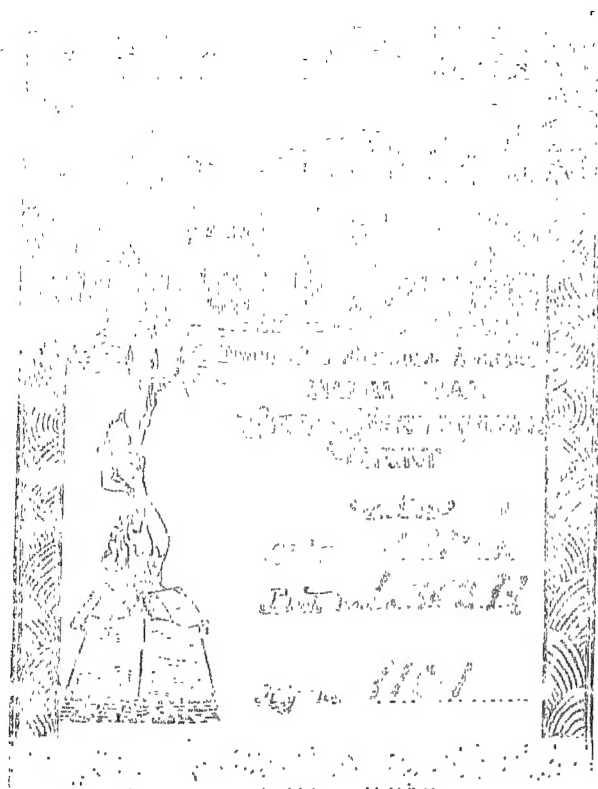
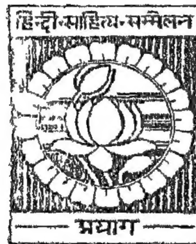


		1	2	3	4
6	7	8	9	10	1
13	14	15	16	17	1
20	21	22	23	24	2

हिन्दी गद्य निर्माण

सम्पादक

लक्ष्मीधर वाजपेयी



हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

पंचम संस्करण : १००० : मूल्य २)

मुद्रक—गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग।

प्रकाशक का वक्तव्य

इस गद्यसंग्रह का यह पंचम संस्करण है। यह संग्रह विद्वान् संग्रह कर्त्ता ने हिन्दी गद्य शैली के वैज्ञानिक विकास के आधार पर किया था। मध्यमा के विद्यार्थियों के लिए शैली और भाषा के विचार से यह संग्रह कितना मान्य हुआ यह तो इसके इतने संस्करणों से ही सिद्ध हो जाता है। अगले संस्करण में आवश्यक परिवर्त्तन और परिवर्धन से हम इसे और भी उपयोगी और वैज्ञानिक बनाने का यत्न करेंगे।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग

साहित्य मन्त्री

विषय सूची

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माण का प्रारम्भ सच पूछिये तो राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द के समय से ही होता है। यह सच है कि स्वयं राजा साहब हिन्दी गद्य का कोई निश्चित स्वरूप स्थिर नहीं कर सके; क्योंकि प्रान्तीय शिक्षाविभाग के उच्च पदाधिकारी होने के कारण उस समय उनको हिन्दी-उर्दू के समझौते का मार्ग स्वीकार करना पड़ा—किसी प्रकार से भी हो, नागरी लिपि और हिन्दी भाषा, शिक्षा-विभाग के द्वारा, सर्वसाधारण जनता में अपना घर कर लेवे, यही उनका लक्ष्य था—इसके लिए उन्होंने पूर्ण प्रयत्न किया; और सफल भी हुए।

हिन्दी के विशुद्ध रूप के कई पक्षपाती उक्त राजा साहब के समय में ही उत्पन्न हो चुके थे; और इन विद्वानों ने अपनी लेखनी द्वारा, तथा अन्य प्रकार से भी, हिन्दी गद्य को अच्छा स्वरूप दिया, जिसको भारतेन्दु जी ने स्थिर-स्थायी बना दिया। सौभाग्य से भारतेन्दुकाल में बहुत अच्छे-अच्छे गद्य-लेखक हिन्दी-संसार में मौजूद थे, और उन्होंने अपने इस साहित्यिक नेता का साथ दिया; और हिन्दी-गद्य को अपने त्याग और अपने तप से इस दर्जे तक पहुँचाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद आचार्य द्विवेदी जी का, वर्तमान हिन्दी-गद्य-निर्माण में, बहुत बड़ा हाथ है। क्योंकि भारतेन्दु काल के गद्य-लेखकों की रचना देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि उनको व्याकरण के नियमों की उतनी परवा नहीं थी, जितनी अपने लिखने की धुन की! अपने मन का साहित्य तैयार करना उनका प्रधान लक्ष्य था—शैली अपनी थी ही। स्वयं भारतेन्दु जी ने तो अपनी रचना में अपनी परिमार्जित शैली का काफी ध्यान रक्खा है; और उनकी रचना में व्याकरण के अशुद्ध प्रयोग भी उतने नहीं पाये जाते; परन्तु उनके समसामयिक कई गद्यकार प्रायः अपनी धुन में ही मस्त थे। वे भारतेन्दु को नेता मानते हुए भी अपनी लहर में ही चलते थे, और यही उनका व्यक्तित्व था, जिस पर उनकी भाषाशैली खड़ी है। इनकी

गद्यरचना में व्याकरण के नियमों की अवहेलना स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इन लेखकों की भाषाशैली में व्यंग्य के साथ-साथ विनोद की बहुत अच्छी कला है; और शब्दों तथा वाक्यों में हार्दिक भाव प्रदर्शन की क्षमता भी काफी मात्रा में है; परन्तु रचना का बीहड़पन और ग्रामीणता भी कहीं-कहीं प्रदर्शित होती है। अस्तु।

भारतेन्दु जी के बाद द्विवेदी जी का ही ध्यान भाषाशैली के परिमार्जन की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने हरिश्चन्द्रकाल की शैली में भाषा और व्याकरण सम्बन्धी भूलों का परिमार्जन किया। स्वयं कई प्रकार की टकसाली हिन्दी लिखी, और "सरस्वती" के सम्पादन के द्वारा सैकड़ों नवीन और प्राचीन गद्य-लेखकों को विशुद्ध हिन्दी लिखने का मार्ग प्रदर्शित किया। समालोचना के द्वारा, हिन्दी-संसार में, व्याकरण-विशुद्ध-भाषा लिखने के कई बड़े-बड़े आन्दोलन उठाये। आलोचनापूर्ण व्यंगात्मक शैली, अखबारों के प्रयोग में आनेवाली चलती हुई भाषा शैली, विवेचनात्मक तर्कपूर्ण शैली और काव्योपयोगी अलंकारात्मक भावपूर्ण शैली, इत्यादि कई प्रकार की भाषा आचार्य द्विवेदी जी ने स्वयं लिखी; और इस प्रकार के कई लेखकों को प्रोत्साहित भी किया।

द्विवेदी जी के भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी गद्यशैली का परिमार्जित सुन्दर स्वरूप निखर और बिखर उठा। भाषा में एक प्रकार की संघटनात्मक व्यापकता का समावेश हो गया। विवेचनात्मक तर्कपूर्ण शैली और उद्गारात्मक भावपूर्ण शैली—इन दोनों शैलियों के स्वतंत्र स्वरूप हिन्दी लेखकों के सामने आगये। फलतः वर्तमान समय के सैकड़ों हिन्दी लेखक, अपनी-अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ, अपनी-अपनी स्वतंत्र शैलियों में हिन्दी-गद्यनिर्माण का कार्य करने लगे।

इस प्रकार वर्तमान समय में हिन्दी की गद्य-शैली का विकास हुआ है अवश्य; परन्तु फिर भी ऐसे बहुत ही कम लेखक पाये जाते हैं जिनका गद्य पढ़ने में हमको आनन्द आता है। और गद्य लिखना है भी बहुत कठिन। शायद इसी लिए हमारे पूर्वाचार्यों ने गद्य को कवियों की कसौटी माना है।

क्योंकि पद्य लिखना सहज है, गद्य लिखना उतना सहज नहीं। पद्य में लेखक को अनेक छन्द-बन्धनों में बँध कर रचना करनी पड़ती है। इस लिए उसमें यदि कहीं अस्वाभाविकता भी आ जाय, तो संगीत के प्रभाव से साधारण पाठक को वह खटकती नहीं। मार्मिक समालोचक ही उसको समझ सकता है। अतएव पद्यात्मक भाषा की अस्वाभाविकता चाहे एक बार क्षमा भी की जा सके; पर गद्य में ऐसा नहीं हो सकता। गद्य नित्य के व्यवहार की चीज़ है। इस लिए लेखनी द्वारा हार्दिक भाव प्रकाशन करते हुए बोलचाल की सी सजीवता उसमें आनी चाहिए, तभी वह गद्य भली भाँति हृदयंगम होगा। गद्य पढ़ते समय पाठक के सामने लेखक की सजीव मूर्ति खड़ी हो जानी चाहिए—और ऐसा भास होना चाहिए कि लेखक स्वयं अपनी प्रखर वाणी से बोल रहा है। जैसे किसी परिचित व्यक्ति की आवाज़ हम, उसके बिना देखे ही, पहचान लेते हैं, उसी प्रकार सिर्फ भाषाशैली से ही मालूम हो जाता है कि यह अमुक प्रसिद्ध लेखक की लिखी हुई सजीव भाषा है। यही लेखक का व्यक्तित्व है। इस लिए जिस लेख में लेखक का व्यक्तित्व न झलकता हो, वह लेख 'लेख' नहीं कहा जा सकता।

संस्कृत भाषा के मध्यकाल में बाणभट्ट, सुबन्धु और दण्डी—तीन बड़े उद्भट गद्यलेखक हो गये हैं। इनकी भिन्न भिन्न शैली देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि यह अमुक गद्यकार कवि की रचना है। हिन्दी में भी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, भारतेन्दु, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, अध्यापक पूर्णसिंह, पंडित पद्मसिंह शर्मा इत्यादि लेखकों की सजीव भाषाशैली में उनका व्यक्तित्व बोल रहा है। अंगरेज़ी कहावत है Style is the man himself इसका भी अर्थ यही है। प्रत्येक प्रतिभाशाली लेखक अपनी रचना में अपना मस्तिष्क और हृदय खोलकर रख देता है। उसके शब्द शब्द में उसकी आत्मा अदृश्य रूप से व्याप्त रहती है। अपना मन, अपना प्राण, अपना जीवन और अपना सर्वस्व वह अपनी रचना में रख देता है। इसी लिए वह स्वयं अपनी रचना के स्वरूप में अजर अमर होकर सदैव जीवित रहता है। जब हम उसकी रचना

को पढ़ने लग जाते हैं, तब हम को ऐसा भास होता है कि वह ऋषि स्वयं हमारे सामने खड़ा है, और हम प्रत्यक्ष उससे बातचीत कर रहे हैं।

प्रत्येक लेखक अपने शब्दों में अपने प्राण तो फूँकता ही है, इसके सिवाय उसका ढंग भी अपना अलग होता है। अपने भावों, अपने विचारों और अपने अनुभवों आदि को भाषा द्वारा प्रकट करने का जो उसका अपना निजी रचना-चमत्कार होता है, उसी को भाषा-शैली कहते हैं। किसी की शैली में अर्थ और भाव का गाम्भीर्य रहता है। किसी में सिर्फ पदलालित्य और शब्द-सौष्ठव ही रहता है। किसी की भाषा में प्रवाह का वेग रहता है, तो किसी की भाषा बिलकुल मंथर गति से चलती है। किसी में अलंकारों की छटा रहती है तो किसी की भाषा साफ-सुथरी, मंजी हुई, बिलकुल सीधी-सादी रहती है। कोई छोटे छोटे वाक्यों में ही, विचित्र ढंग से, बड़ी बड़ी बातें कह जाते हैं, कोई बड़े बड़े वाक्य लिख कर भी बहुत कम कह पाते हैं। कोई मानसिक भावों का विश्लेषण करने में बड़े पटु होते हैं, तो कोई अपनी भाषा में चरित्र चित्रण करना अच्छा जानते हैं। किसी में कथानक की रोचकता दिखाई देती है, तो कोई घटना का यथार्थ चित्र खींचना बहुत अच्छा जानते हैं। सारांश यह है कि भिन्न भिन्न रचनाकार अपनी अपनी, कोई न कोई, निजी विशेषता अवश्य रखते हैं। और यही उनकी निजी विशेषता उनकी रचना-शैली कहलाती है। कोई भी लेखक यद्यपि किसी विशेष गद्यशैली का निर्माता नहीं हो सकता, फिर भी अपनी निजी विशेषता प्रत्येक गद्यकार रखता है। इसलिए जो नवयुवक लेखनकला सीखना चाहते हैं, उनको प्रत्येक प्रकार की गद्यशैली का आलोचनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए। इसी हेतु यह "हिन्दी गद्यनिर्माण" नामक पुस्तक नवयुवक विद्यार्थियों के लिए सम्पादित की गई है। हम पहले ही कह चुके हैं कि वर्तमान हिन्दी गद्य का निर्माण हम राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के समय से मानते हैं। इसके पहले जिन पूर्वजों ने हिन्दी गद्य लिखा उनकी शैली वर्तमान काल से भिन्न है। वह एक प्रकार से वर्तमान हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक काल है। इतिहास की चीज़ है। उस समय—हिन्दी गद्य कैसा होना चाहिए—इस विषय का कोई आन्दो-

लन लेखकों के दिमाग़ में नहीं था—यदि कोई बात, गद्यशैली के विषय में, किसी के दिमाग़ में आई भी थी, तो वे इन्शा अल्ला खाँ थे, जिन्होंने विशुद्ध हिन्दी गद्य का नमूना, अपने समय के लेखकों के लिए, अपनी विशेष शैली में पेश किया। अब वह भी इतिहास की ही वस्तु समझिये। इसका उल्लेख हमने अपनी भूमिका के प्रारम्भ में कर दिया है।

हिन्दी गद्य कैसा होना चाहिए—जनता में इसका आन्दोलन राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के समय से ही प्रारम्भ हुआ; और अब तक बराबर चला आता है। जो भी कुछ हो, हमारे नवयुवक लेखकों को अपनी निज की कोई न कोई शैली अवश्य बनानी पड़ेगी। और यह तभी होगा जब उनमें अपने निज के कुछ न कुछ हृद्गत भाव हों—यही उनकी मौलिकता होगी। लेखकगण उन भावों को उद्गार रूप में अपनी लेखनी से निकालें, तो शब्द उनके गुलाम हैं। शब्द तो आप ही आप यथास्थान निकलते आते हैं, उनको खींच-खींच कर लाना नहीं होता। जो आडम्बर पूर्वक—किसी विशेष उद्देश्य से—शब्द खींचखाँच कर लाते हैं, उनकी भाषा और शैली में कृत्रिमता, अस्वाभाविकता अवश्य आ जाती है। उसको हम सजीव शैली नहीं कह सकते, जैसे कि आजकल के कई वक्ता और लेखक—जो राजनैतिक प्रभाव में पड़ कर "हिन्दी-हिन्दुस्तानी" की—अथवा हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी पकाना चाहते हैं—जानबूझ कर अपने व्याख्यानों और लेखों में, उर्दू फारसी के कई शब्द, अस्थानीय रूप से, घुसेड़ देने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। ये लोग अस्वाभाविक रूप से इस बात का अभ्यास करते देखे जाते हैं कि उनकी भाषा में—चाहे वे ठौर-कुठौर ही क्यों न हो—कुछ उर्दू-फारसी के शब्द ज़रूर आ जावें। परन्तु 'हिन्दी' को 'हिन्दुस्तानी' बनाने के लिए इस प्रकार का प्रयत्न उपहासास्पद ही होगा। हम उर्दू फारसी के शब्दों को हिन्दी भाषा में व्यवहृत करने के विरोधी नहीं हैं। हमारे प्रति दिन के बोल चाल के विदेशी शब्द चाहे जितने हमारी भाषा में आ जावें—परन्तु विशेष रूप से, किसी आग्रह या दुराग्रहवश, यदि हम हिन्दी में उनको घुसेड़ने लग जायँगे, तो भाषा और उसकी शैली में कृत्रिमता आये विना न रहेगी। उसकी

स्वाभाविकता और सजीवता नष्ट हो जायगी।

फिर इसके सिवाय एक बात और भी है—बोलचाल की भाषा सिर्फ व्याख्यानों और अखबारों में ही काम दे सकती है। इसके बाद कुछ कुछ उपन्यासों और कहानियों में भी उसका उपयोग हो सकता है। प्रहसन और नाटक भी बोलचाल की भाषा में लिखे जा सकते हैं। परन्तु अन्य गम्भीर विषयों में बोलचाल की भाषा लिखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कोई भी गम्भीर विषय—फिर उसमें हम चाहे जितने पारंगत क्यों न हों—शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्दों के बिना समझाया नहीं जा सकता। और जहाँ शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्द आवेंगे, वहाँ उस भाषा की संस्कृति का प्रश्न भी उठ खड़ा होगा। किसी भी भाषा के शब्दों के साथ उसकी प्राचीन संस्कृति का स्वाभाविक सम्बन्ध अवश्य रहता है। शब्दों की वही शक्ति हृदय पर प्रभाव डालती है, जिस शक्ति का राष्ट्र के अधिकांश मानव-समाज से परम्परागत सम्बन्ध होता है; और शक्ति का उपयोग उस राष्ट्र के पूर्वज लोग सदैव से करते आ रहे हैं। भारतवर्ष के लिए तो यह सिद्धान्त और भी अधिक लागू है। क्योंकि यहाँ की मूल सभ्यता और संस्कृति अनेक प्रतिक्रियायों से ठोकर लेती हुई अब तक जागृत और जीवित है। इसकी भित्ति ऐसी ही दृढ़ चट्टान पर यहाँ के पूर्वजों ने रखी है। अतएव अपनी संस्कृति की उपेक्षा हम किसी तरह से नहीं कर सकते। इस लिए नवयुवक लेखकों से प्रार्थना है कि वे लेखनी संचालित करते समय अपनी भाषा के स्वाभाविक प्रवाह से दूर न हट जावें। जिन लोगों के लिए वे कुछ लिखते हैं, उनकी परम्परागत शैली का अवश्य ध्यान रखें। नवीन विषयों को प्राचीन साँचे में ढालते हुए, उत्क्रान्ति की ओर अवश्य चलें, परन्तु कोई भी ऐसा कार्य न करें, जिससे हमारे पूर्वज ऋषियों की आत्मा दुखी हो, जो अपनी आत्मपूत लेखनी से अब भी संसार के गुरु बने हुए हैं।

शैली के विषय में अपने नवयुवक लेखकों को एक इशारा हम और भी कर देना चाहते हैं। भाषा लिखते समय वे अपने स्वरपात (Accentuation) पर अवश्य ध्यान रखें। भाषा शैली में स्वरपात यानी लहजा

ही सजीवता और सौन्दर्य लाता है। स्वरपात में ही प्रभावोत्पादक संगीत रहता है। स्वाभाविक स्वरपात के साथ हृदय की बात जब हम हृदय से उठाते हैं; तब वह पढ़ने या सुनने वाले के हृदय में जाकर सीधी समा जाती है। हमारे शब्दों और हमारे वाक्यों में हमारी वाणी का स्वर कहाँ कैसा जाकर गिरता है—वह वैसा ही है या नहीं कि जैसा हम दो अभिन्न-हृदय मित्र, एकान्त में बैठकर, खुले हृदय से, वार्तालाप करते हैं। उस समय कोई सकोच हमारे सामने नही रहता। संगीत की स्वाभाविक सुन्दर स्वर-लहरियाँ हमारे सम्भाषण में लहराती रहती हैं। इसी प्रकार का तारतम्य हमारी लेखनी में भी होना चाहिये। लेखनी का यह संगीत कोमल भी होता है; और कठोर भी। जब हम कोमल भावनाओं का चित्रण करते हैं, तब यह स्वरपात का संगीत कोमल और कर्ण-मधुर होता है; और जब हम किसी सार्वजनीन अन्याय के प्रति कठोर आवेग में आकर लेखनी चलाते हैं, तब हमारा वही स्वर अन्यायियों और अत्याचारियों के हृदय को विदीर्ण करता हुआ जाता है। हम अपनी लेखनी के स्वर से उपकारियों का हृदय शीतल कर सकते हैं, और अपकारियो के दुष्कृत का विनाश भी कर सकते हैं। लेखनी के संगीत में ऐसा ही प्रभाव है। स्वर के साथ शब्दों की शक्ति का ऐसा ही चमत्कार है !

शैली के विषय में युवक लेखकों के लिए इतना ही परामर्श यहाँ पर पर्याप्त मालूम होता है। इस पुस्तक में हमने आधुनिक काल के कुछ मुख्य मुख्य लेखकों के ही गद्य लेख संकलित किये हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त और भी कई हिन्दी गद्यकार आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं। परन्तु स्थल-संकोच के कारण हम और अधिक निबन्ध देने में असमर्थ हैं। जो लेख यहाँ पर दिये गये हैं, उनमें लेखकों की शैली दिखलाने का हमने प्रधान हेतु रखा है। इसके साथ ही विषय-वैचित्र्य का भी ध्यान रखा गया है। संग्रह साहित्य की परीक्षा के लिए किया गया है, इस लिए साहित्यिकता का भाव सर्वोपरि माना है। भूमिका में प्रत्येक लेखक की हिन्दी-सेवा और उसकी शैली का संक्षेप विवरण दे दिया है। किसी लेखक की शब्द शैली में हमने अपनी ओर

से कोई परिवर्तन नहीं किया है। जिस जगह से जैसे लेख हमको मिले हैं, वैसे ही हमने रखे हैं। यदि हमको कोई परिवर्तन मालूम हुआ है, तो हमने लेखकों की शैली का ध्यान रख कर उसको असली रूप में ही रखने का प्रयत्न किया है। फिर भी पुराने लेखकों की असली हस्तलिपियाँ जब तक हमको प्राप्त न हो जावें, हम क्या कर सकते हैं। हमको तो इस बात की अत्यन्त आवश्यकता मालूम होती है कि हिन्दी के हमारे पूर्वज ग्रन्थकार और लेखक—जो हमारे लिए ऋषितुल्य पूज्य हैं—उनकी हस्तलिपियाँ हम हर-एक प्रयत्न से प्राप्त करें; और उनको संग्रहालयों में लाकर सुरक्षित रखें। इन चीज़ों से हमको हिन्दी के गद्यपद्य के विकास का इतिहास लिखने में आगे बहुत मदद मिल सकती है।

इस संग्रह में जिन विद्वान गद्यकारों के लेख रखे गये हैं; और जहाँ से हमने उनको चुना है, उन सभी लेखकों और प्रकाशकों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। आशा है कि जिन युवक लेखकों के लिए हमने यह प्रयत्न किया है, वे इससे समुचित लाभ उठाकर हमारे परिश्रम को सफल करेंगे।

दारागंज,
वैशाख शुक्ला ११ सं० १९९२

लक्ष्मीधर वाजपेयी

भूमिका

प्रारम्भिक इतिहास—भाषा मानोभावों का प्रकाश करने के लिए एक ईश्वरदत्त साधन है। इसके दो भेद हैं—गद्य और पद्य। साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालने में स्पष्ट मालूम होता है कि साहित्य में पहले पद्यात्मक भाषा का ही जन्म हुआ। प्रारम्भ में जन समुदाय की बोलचाल में चाहे गद्य का कोई स्वरूप रहा हो; पर जिसको "साहित्य" नाम से हम जानते हैं, वह पद्य में ही रचा गया। इसका मुख्य कारण हमको यही जान पड़ता है कि मनुष्य स्वभाव से ही संगीत, सौन्दर्य और मनोरंजनप्रिय है; और साहित्य का उद्देश्य जनसमुदाय को मनोरंजन के साथ उपदेश देना है, इसलिए गद्य की अपेक्षा पद्य इसके लिए विशेष उपयोगी समझा गया। कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि प्रारम्भिक काल में मनुष्य में चिन्तना शक्ति का अभाव था, और वह अर्धसभ्य असभ्य अवस्था में था। इसलिए प्रत्येक बात को वह पद्यात्मक भाषा में ही सुविधा से ग्रहण कर सकता था। इसी कारण पद्य की सृष्टि पहले हुई। पर यह विचार भ्रमात्मक है। गद्यकाल में ही चिन्तनाशक्ति और सभ्यता विशेष विकसित होती है, पद्यकाल में नहीं—ऐसी बात नहीं है। कौन कह सकता है कि वैदिक छन्दों के रचयिता सभ्यता और चिन्तनाशक्ति में निर्बल थे, अथवा जिन लोगों के लिए उन्होंने सामवेद की रचना की उनमें चिन्तनाशक्ति या सभ्यता न्यून थी! वास्तव में चिन्तना शक्ति अथवा सभ्यता गद्य अथवा पद्य साहित्य की रचना पर निर्भर नहीं है, बल्कि साहित्य के गम्भीर और उथले भावों पर ही इनकी न्यूनाधिकता का विचार रखा जा सकता है।

स्वतंत्र साहित्य-रचयिता अपनी अपनी रुचि और मनोभावों के अनुसार साहित्य की सृष्टि करते हैं; जनता भी अपनी अपनी रुचि और मनोभावों के अनुसार उस साहित्य का उपयोग करती है। चिन्ताशील मनुष्य गम्भीर साहित्य

का उपयोग करते हैं; और उथले दिमाग वाले हल्के साहित्य को पढ़कर अपना मनोरंजन करते हैं। फिर पहले पद्य ही क्यों लिखा गया। इसका कारण हम पहले ही बतला चुके हैं कि पद्यकाव्य मनुष्य को स्वाभाविक ही प्रिय है; इसलिए स्वभाव से ही मनुष्य समाज ने उसको पहले पकड़ा; और जो परिपाटी एक बार चल पड़ी, वह चलती ही जाती है; फिर राजनीतिक और सामाजिक कारणों से उथल पुथल होने के साथ लोगों की मनोवृत्ति में भी उथल पुथल होता है।

अस्तु। उपर्युक्त परिपाटी के अनुसार हिन्दी साहित्य में भी पहले पद्य का ही निर्माण मिलता है। विक्रम की नवी दसवीं शताब्दी के लगभग हिन्दी पद्य का जन्म हुआ, जिसकी अविच्छिन्न धारा सत्रहवीं शताब्दी तक बराबर चलती रही; और इस बीच गद्य में साहित्य-सृजन करने का कोई व्यापक अथवा निश्चित स्वरूप दिखाई नहीं देता। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जनता में गद्य का कोई स्वरूप उस समय था ही नहीं—नहीं, अवश्य था किन्तु साहित्य की दृष्टि से, लेखन के रूप में उसका उपयोग नहीं होता था। लोक व्यवहार यानी निजी चिट्ठी-पत्री और राजकीय कागज-पत्रों इत्यादि तक ही गद्य का व्यवहार सीमित था। इसमें सन्देह नहीं कि गद्य का कोई साहित्यिक रूप ग्रन्थों अथवा निबन्धों या लेखों के रूप में जनता के सामने नहीं था; परन्तु फिर भी, मौखिक रूप में कथावाचक व्यास, कीर्तनकार हरिदास और प्रवचन करने वाले गुरु, जनता और शिष्यों के सामने, हज़ारों वर्ष पहले भी अपना साहित्य-सृजन गद्य में ही करते थे—वे जनता के सामने जो अपना मौखिक व्याख्यान रखते थे, वह पद्य में नहीं होता था। हां यह बात ज़रूर है कि उस समय आजकल की भाँति छापेखाने और मौखिक साहित्य की रिपोर्ट लेने वाले "प्रेस-रिपोर्टर" नहीं थे; और उनको इन चीज़ों की अवश्यकता भी नहीं थी। सारांश यह है कि उस समय उद्योगधंधों, कलाकौशल, धर्मप्रचार, अध्ययन-अध्यापन इत्यादि के सब कामकाज मौखिक गद्य में होते थे। साहित्य लिखने का काम पद्य में होता था।

हिन्दी भाषा के भिन्न भिन्न रूप अथवा पद्य में, हिमालय और

विन्ध्याचल के बीच, मनुस्मृति के अनुसार, मध्यदेश अथवा आर्यावर्त्त के भिन्न भिन्न प्रान्तों में प्रचलित थे। पश्चिम और पूर्व की ओर इस प्रान्त की सीमा क्रमशः पंजाब के पूर्वीय और विहार के पश्चिमीय भाग से मिली हुई थी। इस मध्य देश में, भिन्न भिन्न प्रान्तों में, भिन्न भिन्न प्रकार के, गद्य का प्रयोग बोल-चाल और साधारण व्यवहार में होता था। अर्थात् उस समय का हिन्दी गद्य, वहाँ के प्रान्तों की भिन्न भिन्न बोलियों के रूप में था। इसके बाद वर्तमान खड़ी बोली का सूत्रपात नवीं या दसवीं शताब्दी के लगभग हुआ।

वर्तमान समय में जो खड़ी बोली, हिन्दी भाषा के गद्य और पद्य में, व्यवहृत होती है, उसके बनाने में मुसल्मान साधुओं और साहित्यकारों ने प्रारम्भिक काल में, अच्छा भाग लिया। उस समय के मुसल्मान साहित्यकारों में पहला नाम सन् ८७० ई० में अब्दुल्लाह एराकी का मिलता है, जिसने आलूर के राजा के लिए कुरानशरीफ का 'हिन्दवी' में तर्जुमा किया। इसके बाद अमीर खुसरो, अशरफ, सादी, शाहवली अल्लाह, शेख, मुहम्मद बाबा, रहीम, जायसी, कबीर और बहुत से मुसल्मान साधु, कवि और साहित्यकार, मुसल्मानी राज्य के साथ ही साथ, भारत के प्रत्येक प्रान्त में फैले हुए थे; और अधिकांश उनमें से एकेश्वरवादी, और राजनीतिक झंझटों से अलग, सच्चे ईश्वरभक्त साधु थे,—हिन्दू साहित्यकारों, कवियों और साधुओं से इनकी घनिष्ट मैत्री, हेलमेल और आत्मीय प्रेम था। वर्तमान की भाँति इनमें हिंदू मुसल्मानों का मज़हबी या राजनैतिक किसी प्रकार का भी मतभेद नहीं था। राम और रहीम दोनों को वे एक ही समझते थे। दोनों एक साथ बैठकर एक ही भाषा में परस्पर विचार-विनिमय और जनता को उपदेश किया करते थे। इनमें प्रायः सभी मुसल्मान कवि, साधु और साहित्यकार "हिन्दवी" या हिन्दी भाषा का ही व्यवहार करते थे। "उर्दू" शब्द भी उस समय इन मुसल्मान साहित्यकारों के सामने नहीं आया था। हाँ, अरबी और फारसी के विद्वान् इनमें अवश्य थे। अपनी "हिन्दवी" में भी—सरल प्रचलित अरबी फारसी के शब्द, जो जनता सहज में समझ लेती थी, ये लोग व्यवहृत करते थे। दक्षिण के प्राचीन हिन्दू साधु ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास

इत्यादि जो मराठी के साहित्यकार थे, उन्होंने भी खड़ी बोली (जिसको कि उस समय का गद्य ही कहना चाहिए) में अपने कई पद लिखे हैं। यहाँ तक कि छत्रपति शिवाजी की भी हिन्दी-पद-रचना खड़ी बोली में मिलती है।

परन्तु प्राचीन हिन्दू साहित्यकारों को तो हम छोड़ते हैं; क्योंकि उनकी शायद ही कोई कविता खड़ी बोली में मिलती है—अधिकांश मुसलमान साहित्यकारों का ही उस समय का "हिन्दवी" पद्य, खड़ी बोली में मिलता है। गद्य उस समय का कम मिलता है, और यदि कुछ मिलता भी है, तो मिश्रित भाषा में। परन्तु हिन्दी गद्य का इतिहास जब हम देखते हैं तब पहले पहल हमको वहाँ भी एक मुसलमान ही सैलानी साहित्यकार मिलता है, जिसने हिन्दी भाषा में अरबी फारसी के कठिन शब्दों का मिश्रण तो क्या, विदेशी भाषा के प्रचलित शब्दों तक का बहिष्कार करने की ठानी है। यह सैलानी हिन्दी-गद्य-निर्माता सैयद इंशा अल्लाख़ां है, जिसने प्रतिज्ञा करके अपना हिन्दी गद्य ऐसा लिखा है कि "जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोल की पुट न मिले।" अर्थात् हिन्दी को छोड़कर और किसी (अरबी फारसी इत्यादि विदेशी) शब्द का आभास भी न मिले। वह कहता है, जब मैं ऐसा करके दिखलाऊँ "तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले।"

निस्सन्देह इस सैलानी साहित्यकार के समसामयिक मुंशी सदासुखलाल पंडित लल्लूलाल और पंडित सदल मिश्र—और और भी कई हिन्दी गद्य-निर्माता जिनका कि नाम अभी तक इतिहास ग्रन्थों में नहीं आ सका है—सैयद इंशा अल्लाख़ां के समय में और शायद उसके पहले भी—हिन्दी गद्य लिख गये होंगे; पर हिन्दी गद्य लिखना मात्र उनका उद्देश्य नहीं था—वे अपना साधारण लेखन का काम करते थे। जैसे मुन्शी सदासुखलाल ने उस समय सब से अधिक परिमार्जित गद्य लिखा है; पर गद्य लिखना उनका उद्देश्य नहीं था—किसी खास तरह की टकसाली भाषा लिखना उनका अभीष्ट नहीं था—उनका उद्देश्य था श्रीमद्भागवत का सरस अनुवाद करना अथवा अन्य प्रकार के लेख लिखना। इसी प्रकार लल्लूलाल जी और सदल मिश्रका प्रथम उद्देश्य था अपने अध्यक्ष गिलक्राइस्ट साहब का आज्ञा-पालन। इन दोनों हिन्दू

गद्य-निर्माताओं ने अपनी-अपनी स्वाभाविक बोली में अपना हिन्दी गद्य लिखा। किन्तु गद्य लिखना ही मात्र उनका उद्देश्य नहीं था। हाँ सैयद इंशा-अल्ला ख़ाँ का एक मात्र उद्देश्य जनता के सम्मुख ऐसा गद्य उपस्थित करना था कि जिसको विशुद्ध और परिमार्जित हिन्दी गद्य कह सकें। यह उनकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा से ही सिद्ध होता है! अब यह दूसरी बात है कि वे मुंशी सदासुखलाल और पंडित सदल मिश्र के समान स्वाभाविक हिन्दी गद्य न लिख सके। इसका कारण यह है कि वे रंगीले मुसलमान साहित्यकार थे। शायद उनका रहन-सहन और स्वभाव भी चुहल और बनावट-सजावट-पसन्द रहा होगा; क्योंकि वे बादशाहों और नव्वाबों के एक सम्माननीय दरबारी कवि और साहित्यकार थे। इसलिए अपने स्वभाव और रहन-सहन के अनुसार ही उन्होंने अपना स्वाभाविक हिन्दी गद्य भी बनावट और सजावट पूर्ण लिखा।

जो भी कुछ हो, हमारे हिन्दी गद्य के इतिहास के जो पृष्ठ इस समय तक खुले हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि हिन्दी गद्य या खड़ी बोली के उत्पादन, प्रसारण और पालन में, प्रारम्भिक काल में, मुसलमान साहित्यकारों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बाद के आधुनिक हिन्दी गद्यकारों में राजा शिवप्रसाद जी सितारे हिन्द सब के सरदार हैं। इन्होंने विशुद्ध हिन्दी और मिश्रित हिन्दी दोनों प्रकार का गद्यनिर्माण किया, और शिक्षा विभाग के द्वारा हिन्दी और नागरी का प्रचार भी उन्होंने खूब किया। सब से बड़ा कार्य उन्होंने यह किया कि अपना एक ऐसा उत्तराधिकारी ज़बरदस्त शिष्य पैदा कर दिया कि जो आज प्रत्यक्षरूप में हिन्दी का सबसे बड़ा निर्माता, आधुनिक हिन्दी का जनक, माना जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उत्पन्न करने का श्रेय राजा साहब को ही है। यद्यपि पीछे-पीछे इन गुरु-शिष्यों में मतभेद हो गया था, परन्तु हमारे लिए तो दोनों ही परम पूज्य हैं। अस्तु। अब हम यहाँ पर हिन्दी के अर्वाचीन गद्यनिर्माताओं के विषय में संक्षिप्त विचार प्रकट करेंगे।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द काशी के रहनेवाले थे और शिक्षा

विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर प्रतिष्ठित थे। हिन्दी के आप उन प्राचीन हितैषियों में थे जो देवनागरी के प्रचार और प्रसार में सदैव तत्पर रहे। हिन्दी उर्दू के सम्बन्ध में जो झगड़ा उस समय उपस्थित था, राजा साहब ने उसको सुलझाने में योग दिया। उन दिनों शिक्षा-विभाग में उर्दू और नागरी में से कौन भाषा और लिपि जनता में प्रचलित की जाय, यह प्रश्न उपस्थित था। राजा साहब ने दोनों में समझौते के तौर पर नागरी लिपि और मिश्रित हिन्दी का पक्ष शिक्षा-विभाग में उठाया। राजा साहब ने स्वयं शिक्षाविभाग के लिए हिन्दी पुस्तकें लिखीं और अपने मित्रों से लिखवाईं। आपका यह उद्योग था कि लिपि देवनागरी हो और भाषा 'मिली-जुली रोज़मर्रा की बोलचाल की हो'। राजा साहब की रचनाओं से मालूम होता है कि उन्होंने गद्य-निर्माण में दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया। पहले तो वे भारतेन्दु जी के समान ही विशुद्ध हिन्दी लिखते थे। "राजा भोज का सपना," "दमयन्ती की कथा" इत्यादि उनके निबन्ध विशुद्ध हिन्दी के बढ़िया नमूने हैं, परन्तु पीछे से उर्दू-हिन्दी को मिलाने और एक सर्वसाधारण बोलचाल की भाषा चलाने के उद्देश्य से उन्होंने अपना विचार बदल दिया। सन् १८७५ के छपे हुए अपने गुटके की भूमिका में राजा साहब स्वयं लिखते हैं—"पंडित लोग सोचते हैं कि जितने असली संस्कृत शब्द (चाहे वह समझ में आवें चाहे नहीं) लिखे जावें, उतनी ही उनकी नामवरी का सबब है; और इसी तरह मौलवी लोग फारसी और अरबी शब्दों के लिए सोचते हैं। गरज़ पुल बनाने के बदले दोनों खन्दक को गहरा और चौड़ा करते चले जाते हैं।

इससे मालूम होता है कि राजा साहब हिन्दी और उर्दू दोनों को मिला देने के पक्षपाती थे। जैसे कि आजकल महात्मा गांधी का प्रयत्न है; और हमारी अँगरेज़ी सरकार का भी इन प्रान्तों में आजकल ऐसा ही विचार है; क्योंकि इन प्रान्तों के स्कूलों में "कामन लैंग्वेज" के नाम से सरकारी शिक्षा-विभाग ने ऐसी ही रीडरें जारी की हैं; और सरकार की ओर से खुली हुई "हिन्दुस्तानी एकाडमी" भी ऐसे ही कुछ विचार रखती है। यद्यपि राजा साहब ने उस समय हिन्दी और उर्दू को मिलाने का सद्भावपूर्ण प्रयत्न

किया; और महात्मा जी भी, राष्ट्रीय भाषा के नाम पर, आजकल वैसा ही प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी इस प्रयत्न में इसकी सफलता की कोई आशा दिखाई नहीं देती, क्योंकि भाषा के साथ पुरानी संस्कृति का जो सम्बन्ध है, उससे हिन्दू और मुसल्मान दोनों अपने अपने तौर पर प्रभावित हैं; और जब तक दोनों जातियों की सांस्कृतिक एकता का कोई प्रबल प्रयत्न न हो, भाषा के इस खन्दक पर कोई पुल बन जाने का लक्षण हमें दिखाई नहीं देता। हाँ, यह सम्भव है कि एक "सरकारी भाषा" "हिन्दुस्तानी" के नाम से फिर चल जावे; पर जब तक उर्दू और हिन्दी के साहित्य-रचयिता उसको अंगीकार न करेंगे, जनता में उसका प्रचार न होगा। अस्तु।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की शैली का प्रत्यक्ष विरोध राजा लक्ष्मणसिंह की शैली में प्राप्त होता है। राजा लक्ष्मणसिंह का यह विचार था कि उर्दू के अधिक प्रचार होने पर भी हिन्दी का स्वतंत्र रूप रह सकता है। उनके विचार से उर्दू और हिन्दी अलग अलग भाषाएँ हैं। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तला' 'रघुवंश' और 'मेघदूत' का हिन्दी गद्य में अनुवाद करके अपनी उक्त शैली का प्रतिपादन किया है। इनकी गद्य रचना में फारसी और अरबी के बोलचाल के शब्द भी नहीं आने पाये। इन्होंने बहुत सरल और प्रचलित संस्कृत तथा हिन्दी शब्दों का ही अपनी भाषा में प्रयोग किया है। ये ब्रजप्रान्त के निवासी थे। इसलिए इनके गद्य में ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग भी कहीं कहीं पाया जाता है। परन्तु अधिकांश में इनका गद्य हिन्दी का परिमार्जित स्वरूप है। सरल और स्वाभाविक गद्य-निर्माण में यह सफल शैलीकार माने जाते हैं। यह काल गद्य निर्माण में परिवर्तन का था। ऐसी दशा में राजा साहब अपने सिद्धान्त पर अटल रहकर हिन्दीवालों के लिए आदर्श गद्य का स्वरूप रख सके, यह उनके लिए बड़े गौरव की बात है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

इस समय हिन्दी गद्य-निर्माण में दो शैलियों का रूप उपस्थित था। एक अरबी-फारसी से युक्त थी, दूसरी विशुद्ध हिन्दी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में थी। किसी निश्चित शैली की पुष्टि नहीं हुई थी। इस उलझन को सुलझाने का काम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। उन्होंने यह निश्चय किया कि ऐसे मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए जो अरबी फारसी और संस्कृत के कठिन शब्दों से युक्त न हो। इसलिए, इन्होंने मध्य मार्ग पर चलकर अपनी नवीन गद्यशैली का निर्माण किया। मध्यमार्ग के इस सिद्धान्त का स्वरूप उनकी प्रायः सभी रचनाओं मे स्पष्ट।प्रकट होता है। भारतेन्दु की रचनाशैली में अरबी फारसी के कठिन शब्द प्रायः नहीं मिलते। इसके सिवा संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिकता मे मिलता है। परिणाम-स्वरूप इनकी भाषा व्यावहारिक और मधुर है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा और भी ललित हो गई है। साथ ही भाषा की रोचकता बढ़ाने के लिए उसमें हास्य और व्यंग की पुट भी मौजूद है। भारतेन्दु की इस शैली के प्रचार में उनके नाटकों ने विशेष योग दिया। आप केवल सफल साहित्यकार ही नहीं थे; बल्कि आन्दोलनकर्त्ता "एजीटेटर" भी थे। अतएव आपकी स्थापित की हुई कई संस्थाओं की हलचल तथा आपके रचे हुए नाटकों के अभिनय से भी इनकी शैली हिन्दी जनता के अन्दर घर कर गई। भारतेन्दु जी की व्यापक गद्य-शैली वास्तव में उस समय एक नवीन वस्तु मालूम हुई। उनके समय में गद्य में जो अनिश्चितता उत्पन्न हो रही थी उसे निश्चित मार्ग पर लाकर उन्होंने हिन्दी को उन्नति की ओर अग्रसर किया। इन्होंने साहित्य के विविध अंगों पर विपुल ग्रन्थ-रचना करके हिन्दी भाषा को सम्पत्तिशाली बनाने का खूब प्रयत्न किया। इसीलिए भारतेन्दु जी आधुनिक भाषा और साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

पं० बालकृष्ण भट्ट की गद्यशैली में कई विशेषतायें पाई जाती हैं।

एक तो भट्ट जी की रचना में उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। इसके सिवाय भाषा को व्यापक बनाने की ओर भी इनका विशेष ध्यान था। भावों को प्रकट करने के लिए भट्ट जी ने कई प्रकार के मुहाविरों और कहीं कहीं ग्रामीण और अँगरेज़ी शब्दों से भी सहायता ली है। इनकी शैली में इनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। लेखों के शीर्षक में भाषा की भावभंगी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। रोचकता और सजीवता इनकी शैली के मुख्य गुण हैं। भाषा के सिवा भट्ट जी का विषय-चयन भी विशेषता रखता है। साधारण विषय जैसे 'नाक' 'कान' 'आँख' 'बातचीत' पर भी इन्होंने सुन्दर लेख लिखे हैं। साथ ही सुरुचिपूर्ण साहित्यिक निबन्ध लिखने की परिपाटी भी भट्ट जी ने ही पहले पहल हिन्दी में उपस्थित की। हिन्दी में गद्यकाव्य के निर्माता भी भट्ट जी ही माने जा सकते हैं। आजकल कवित्वपूर्ण शैली से गद्य लिखने की एक परिपाटी चल पड़ी है, भट्ट जी ने भी काव्यात्मक गद्य की भावपूर्ण रचना की है। "हिन्दी-प्रदीप" के द्वारा भट्ट जी ने हिन्दी साहित्य को नवीन प्रकाश दिया; और प्रभावशाली भाषा, सुरुचिपूर्ण विषय-चयन और अनोखी सुन्दर शैली से हिन्दी का बड़ा उपकार किया।

प्रतापनारायण मिश्र

मिश्र जी गद्य-लेखन-प्रणाली में एक प्रकार से भट्ट जी के सहयोगी कहे जा सकते हैं। भट्ट जी की भाँति मिश्र जी भी साधारण से साधारण विषयों पर सुन्दर निबंध लिखने में कुशल थे। नित्य के व्यवहार में भी कुछ तथ्य की बातें कही जा सकती हैं, इसका स्वरूप इनके निबंधों से प्राप्त होता है। इनकी रचना में भी इनके व्यक्तित्व की छाप है। हास्यरसपूर्ण और व्यंगात्मक लेख लिखने में यह सिद्धहस्त थे। लेखों के विषय-निर्वाचन में इनके मौजी स्वभाव का प्रतिबिम्ब झलकता है। इनकी शैली की एक विशेषता यह है कि इन्होंने नागरिक भाषा-शैली के साथ साथ साधारण जन समुदाय की भाषा-शैली को भी अपनाया। इन्होंने अपने फक्कड़पन की मौज में कहीं-कहीं अपनी बैसवाड़ी भाषा और ग्रामीण मुहाविरों का भी प्रयोग किया है। इनके

लेखों में सुन्दर मुहाविरों की भरमार दिखाई देती है। यहाँ तक कि लेखों के शीर्षक तक मुहाविरों में ही पाये जाते हैं। कहीं कहीं मिश्र जी की रचना में पुरानी चाल का पंडिताऊपन भी दिखाई देता है। मिश्र जी ने अपने हार्दिक भावों के प्रवाह में आकर कहीं कहीं व्याकरण के नियमों की भी परवाह नहीं की है। इनकी शैली में बड़ा आकर्षण और विचित्र बांकपन है जो अन्य लेखकों की रचना में नहीं मिलता। मिश्र जी ने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र तथा अपनी अन्य रचनाओं के द्वारा हिन्दी की अच्छी सेवा की है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

इनके समय में भाषा-शैली में प्रौढ़ता आ रही थी। अतएव प्रेमघन जी ने गद्य-निर्माण में एक नवीन ही स्वरूप प्रकट किया। अपने सम-सामयिक लेखकों की शैली का अनुकरण न करके इन्होंने भाषाशैली को अपने ढंग का एक विलक्षण साहित्यिक रूप दिया। भाषा को अलंकारों से युक्त करना, उसे विशुद्धता की ओर अग्रसर करना और संस्कृत भाषा के शब्दों से युक्त करना इनकी शैली की प्रधानता है। बड़े बड़े वाक्य लिखना और अपनी भाषा को विद्वता से परिपूर्ण बनाना इनका स्वाभाविक क्रम था। परिणाम स्वरूप इनकी भाषा में दुरूहता और अव्यवहारिकपन का आभास मिलता है। अलंकारिकता इनकी भाषा का प्रधान गुण है। प्रेमघन जी एक बहुत ही मौजी स्वभाव के और साज-शृंगारप्रिय लेखक थे। अतएव अपनी भाषा और भावों को भी इन्होंने, अपने स्वभाव के अनुसार ही, सजावट के साथ अलंकृत रूप में प्रकट किया है। अपनी "आनन्द-कादम्बिनी" पत्रिका के द्वारा इन्होंने हिन्दी की अच्छी सेवा की। इन्होने सामयिक और साहित्यिक विषयों के साथ साथ हिन्दी में समालोचना लिखने की भी परिपाटी चलाई।

बालमुकुन्द गुप्त

हिन्दी-गद्यशैली के विकास में गुप्त जी का सहयोग विशेष स्थान रखता है। गुप्त जी कलकत्ते के प्रसिद्ध प्राचीन पत्र 'भारत-मित्र' के संपादक थे। पहले

ये उर्दू के बहुत अच्छे लेखक थे और उर्दू के कई पत्रों का योग्यता-पूर्वक सम्पादन किया था, पर पीछे से हिन्दी लिखने की ओर इनकी प्रवृत्ति हुई और कालाकांकर के प्रसिद्ध देशभक्त और हिन्दी-हितैषी राजा रामपालसिंह के 'हिन्दुस्तान' पत्र में ये सहायक संपादक बनकर आये। वहाँ पंडित प्रताप नारायण जी मिश्र के उत्साहदान और सहयोगिता से ये हिन्दी के बहुत अच्छे लेखक बन गये। बाद को इन्होने भारत मित्र' के द्वारा हिन्दीकी अच्छी सेवा की। गुप्त जी उच्चकोटि के सम्पादक और प्रगति के साथ चलने वाले थे। पहले से उर्दू के अच्छे लेखक रहने के कारण इन्होंने भाषा को रुचिकर बनाना भली भांति जान लिया था। मुहाविरों को सुन्दर रूप से प्रयोग करने में यह पटु थे। समाचारपत्र में बोल चाल की भाषा के व्यवहार से छोटे छोटे वाक्यों द्वारा भाव-निदर्शन करने में ये सिद्ध-हस्त थे। इनके वाक्य छोटे छोटे पर अर्थपूर्ण; भाषा सरल और मुहाविरेदार होती थी। इनकी गद्य-लेखन शैली व्यवहारिक और चलती हुई है। कहीं भी ऊबड़-खाबड़ नहीं प्रकट होती प्रवाह का समावेश भलीभाँति हुआ है। यह अपने वाक्य को दृढ़ बनाने के लिए स्थान स्थानपर बात दुहरा दिया करते थे। कथन प्रणाली का ढंग वार्तालाप का सा है। गुप्त जी हास्यविनोद के सुन्दर लेखक थे; और बड़े मार्के का चुभता हुआ विनोद लिखते थे उस समय 'भारतमित्र' में 'शिवशंभु का चिट्ठा' के अतर्गत प्रकाशित होने वाले लेख इसके प्रमाण हैं। इसके सिवा गुप्त जी आलोचक भी अच्छे थे। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार तो था ही, इसी लिए इनकी आलोचना बड़ी प्रभावशालिनी और चमत्कारपूर्ण होती थी। उसमें रूखेपन का आभास नहीं मिलता। हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा-शैली इन आलोचनाओं की प्रधानता थी।

आपने कई पुस्तकों की रचना की है; किन्तु अधिक समय अखबार-नवीसी में व्यतीत करने के कारण स्थायी साहित्य का कोई ग्रन्थ नहीं लिख सके। हिन्दी के लेखकों पर इनकी सरल और बोधगम्य भाषाशैली का काफ़ी प्रभाव पड़ा है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

इसी समय तक हिन्दी में गद्य साहित्य का प्रचार बढ़ चला था और लेखकों की भी संख्या बढ़ती जा रही थी; किन्तु गद्य का कोई स्थिर रूप दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। कहीं कहीं व्याकरण की भद्दी भूलों से तत्कालीन लेखकों के लेख भी दूषित दिखाई देते थे। लम्बे वाक्यों का प्रयोग भाषा को बोधगम्य बनाने में अड़चन डाल रहा था। किन्तु इस प्रकार की मत विभिन्नता में एकाएक परिवर्तन उत्पन्न हुआ। यह परिवर्तन सन् १६०० ई० में प्रारम्भ हुआ। सन् १६०० ईसवी में सरकारी तौर पर न्यायालयों में हिन्दी के प्रवेश का प्रारंभ हुआ। साथ ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा का उत्थान और प्रयाग से 'सरस्वती' ऐसी पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। इस प्रकार के परिवर्तन ने भाषा की प्रगति में भी एक विशेष प्रभाव डाला। इस समय लोगों में यह विचार तो अवश्य हो रहा था कि भाषा का कोई न कोई रूप स्थिर होना चाहिए; किन्तु वह विचार कार्यरूप में परिणत नहीं हो रहा था। इसलिए भाषा में शिथिलता और व्याकरण-संबंधी निर्बलता उन दिनों के गद्य में देखी जाती है। उस समय पहले पहल पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही 'सरस्वती' के द्वारा गद्य की उक्त निर्बलता का परिहार शुरू किया। अभी तक जो जिसके जी में आता था वह वैसा लिखता था; किन्तु द्विवेदी जी ने भाषा की इस अनस्थिरता को दूर करने के लिए तत्कालीन गद्य-लेखकों के लेखों की तीव्र आलोचना प्रारंभ की। इसका परिणाम यह हुआ कि लेखक गण विचार पूर्वक गद्य लिखने की ओर अग्रसर हुए।

भाषा को शुद्ध और परिमार्जित बनाने में द्विवेदी जी ने विशेष संलग्नता से काम किया। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपनी एक नीति स्थिर की; और उसी से रूप में विशुद्ध और परिमार्जित रचना करके एक आदर्श उपस्थित किया। द्विवेदी जी ने भाषा को व्यावहारिक, शक्तिशाली, व्यवस्थित और व्यापक बनाने के लिए उर्दू हिन्दी और अँगरेजी तीनों भाषाओं के शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग किया। छोटे छोटे वाक्यों में ओज और कान्ति

भरते हुए गूढ़ से गूढ़ विषयों का भाव-प्रदर्शन करने में द्विवेदी जी की शैली प्रसिद्ध है। भाव प्रकाशन में द्विवेदी जी ने तीन प्रकार की गद्य-शैलियों का प्रयोग किया है। इन शैलियों की भाषा भावों के अनुरूप रखी गई है। (१) व्यंगात्मक शैली में द्विवेदी जी ने भाषा को व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की है जिससे साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति भी उसे पढ़कर आनन्द लाभ कर सकें। यह शैली उर्दू-हिन्दी मिश्रित है। मसखरापन, हास्य रस का विशेष गुण है। (२) द्विवेदी जी की दूसरी शैली आलोचनात्मक होती है। इस शैली की भाषा कुछ गम्भीर और संयत होती है। हास्य-व्यंग का समावेश इस शैली में नहीं होता। भाषा का रूप प्रथम शैली के अनुरूप ही होता है; किन्तु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक होने के कारण गम्भीरता और ओज की विशेषता झलकने लगती है। इसमें उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पाया जाता है। (३) द्विवेदी जी की तीसरी शैली गवेषणात्मक रचनाओं के अनुकूल है। इस शैली की भाषा शुद्ध और संस्कृत शब्दों के प्रयोग से युक्त है। इस शैली के भाव-प्रदर्शन में विशेष गम्भीरता है। किन्तु तो भी दुरूहता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। बोधगम्यता और स्पष्टीकरण का इसमें पूरा प्रभाव है। इस रचना-शैली से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि लेखक किसी गम्भीर विषय का प्रतिपादन कर रहा है।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने भाषा की शुद्धता और एकरूपता को स्थिर करने में बड़ा योग दिया और हिन्दी के अनेक लेखकों का रचना-काल इनकी शैलियों के द्वारा प्रारम्भ हुआ। 'सरस्वती' ने इस कार्य में विशेष सहायता और सहयोग दिया। द्विवेदी जी ने अपनी सम्पादन-पटुता से सैकड़ों लेखकों और कवियों को प्रोत्साहित किया। वर्तमान समय में आप हिन्दी के आचार्य माने जाते हैं।

माधवप्रसाद मिश्र

मिश्रजी यद्यपि गद्य-लेखकों में अन्य लेखकों की भाँति, प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके; किन्तु उनके लेखों में उनके व्यक्तित्व की छाप है। इनकी गद्य-

रचना में कुछ ऐसी विशेषता पाई जाती है जो अन्य लेखकों में नहीं है। यद्यपि इनके निबन्धों का पूर्ण प्रचार अभी नहीं हो पाया है; किन्तु उनसे इनकी प्रतिभा का चमत्कार प्रकट होता है। मिश्रजी की भाषा में यह विशेषता है कि उसमें क्रमागत भावों का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। ओज और गम्भीरता उसका प्रधान गुण है। यद्यपि भाषा-शैली में संस्कृत-शब्द-विन्यास की अधिकता है, किन्तु प्रवाह और माधुर्य में विशृङ्खलता नहीं दिखाई देती। भावना का आवेश इनकी भाषा को चमत्कृत करता है। पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होने लगता है कि लेखक के हृदय में भावनाओं का स्रोत उमड़ पड़ा है और उससे मार्मिकता का स्पष्ट चित्रण होता जाता है। यदि करुणारस से पूर्ण भावना का उदय हुआ है तो भाषा और विचारों में करुण रस का प्रवाह प्रवाहित हो उठता है। मिश्र जी की भाषा-शैली का प्रधान गुण नाटकत्व का है। कहीं कहीं 'वक्तृत्वमय शैली का भी प्रादुर्भाव हुआ है'। जिससे यह अत्यन्त प्रभावशालिनी हो गई है। भाषा-शैली में वक्तृत्व और नाटकत्व के गुण आ जाने से वह आकर्षक और अधिक रुचिकर हो गई है। इस प्रकार मिश्र जी की रचना शैली में ओज, प्रसाद, उत्कृष्टता और प्रौढ़ता का अच्छा समावेश है।

पूर्णसिंह

मिश्रजी की भाँति सरदार पूर्णसिंह जी भी हिन्दी-क्षेत्र में विशेष परिचित नहीं है; क्योंकि इनकी रचना बहुत थोड़ी मिलती है। सुना गया है कि इनकी बहुत सी रचना अभी अप्रकाशित पड़ी है। परन्तु इनके जो दो चार निबन्ध मिलते हैं, उन्हीं से इनकी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित हो जाता है। आजकल एक नई शैली हिन्दी में उपस्थित है। एक वाक्य लिखकर उसके जोड़-तोड़ के अनेक वाक्यों को उपस्थित कर दिया जाता है; जिससे भाषा अधिक प्रभावशालिनी हो जाती है। इस शैली की परिपाटी अध्यापक पूर्णसिंह ने प्रथम उपस्थित की। इन्होंने भावना-प्रधान गद्य की रचना की है; और उससे एक प्रकार के रहस्य का उद्घाटन किया है। विलक्षणता तो इनके गद्य

का विशेष गुण है ही साथ ही भाव-व्यंजना भी बड़ी मार्मिकता से प्रकट होती है। शब्दचयन इतनी सुन्दरता से अध्यापक जी ने किया है कि भाषा में एक प्रकार की विलक्षण सजावता आ गई है। लेखनशैली को आकर्षक बनाने के लिये बीच बीच में व्यंगात्मक दृष्टान्तों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है, और पाठकों को भाव ग्रहण करने में सफलता हो गई है। पं० माधवप्रसाद मिश्र की भाँति भाषा की शुद्धता की ओर अध्यापक जी का झुकाव अधिक है। जहाँ पर सीधे-सादे कथानक का वर्णन हुआ है वहाँ सरल भाषा और छोटे छोटे वाक्यों से उसे बोधगम्य बनाने की चेष्टा की गई है; किन्तु जहाँ विवेचनात्मक भावों को प्रकट करने का अवसर आया है वहाँ भाषा-शैली गम्भीर और कुछ क्लिष्ट हो गई है। यह स्वाभाविक है। अध्यापक जी की सम्पूर्ण रचना प्रकाशित हो जाने से हिन्दी साहित्य का बड़ा गौरव होगा।

मिश्रबंधु

ये हिन्दी के प्रतिष्ठित और उच्चकोटि के लेखक हैं। 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबंधुविनोद' द्वारा मिश्रबंधुओं की गद्य-शैली का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व मिश्रबंधुओं ने हिन्दी संसार में साहित्यिक समालोचकों के रूप में प्रवेश किया था; और तब से अब तक बराबर आप अनवरत रूप से साहित्य सेवा में लगे हुए हैं, काव्य, नाटक, आलोचनात्मक ग्रन्थ और भिन्न भिन्न विषयों पर साहित्यिक निबन्ध लिख कर आपने हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा की है। अँग्रेजी के विद्वान् होने के कारण इनकी आलोचनाओं में अँग्रेजी आलोचना-शैली का पूर्ण प्रभाव है; और इसी लिए उनमें गम्भीरता तथा विवेचनात्मक पद्धति का समावेश हुआ है। इनकी गम्भीर लेखन प्रणाली संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग से युक्त है। इनके विषयचयन में नवीनता, विचित्रता और एक प्रकार की विलक्षणता पाई जाती है; पर भाषा शुद्ध और बोधगम्य बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई है। हाँ, कहीं कहीं उसमें पुरानी शैली का पंडिताऊपन अवश्य झलकता है। इसी लिए

मिश्रबंधुओं ने पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि लेखकों की भाँति अपनी भाषा-शैली और विषय रचना में एक प्रकार की भिन्नता स्थापित कर ली है। भाषा में व्याकरण का विशेष बन्धन आप नहीं मानते। इस विषय में आप बहुत उदार किंबहुना उच्छृङ्खलता के भी पक्षपाती हैं। उर्दू मिश्रित भाषा के आप कायल नहीं हैं, परन्तु विषय के अनुरूप भाषाव्यवहार के आप पूर्ण पक्षपाती हैं। कहीं कहीं नाटक के अनुरूप शैली का भी प्रयोग इनकी भाषा में प्राप्त होता है। इनके कथोपकथन की प्रणाली आकर्षक है, किन्तु उसमें भी विवेचनात्मक ध्वनि-गाम्भीर्य वर्तमान है।

श्यामसुन्दरदास

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना और विभिन्न रूप से हिन्दी साहित्य की लगभग ४० वर्ष से सेवा करके बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी संसार में एक विशेष महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया है। बाबू साहब जहाँ एक ओर रचनात्मक कार्य करने में सफल हुए हैं, वहाँ उच्च कोटि के श्रेष्ठ साहित्यकार की दृष्टि से भी आप की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। इस समय तक कथा कहानी आदि विषयों पर विशेष रूप से रचनायें हो रही थीं और उसी के अनुरूप भाषा का भी प्रणयन हो रहा था। किन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी शैली को एक विशेष गम्भीर दिशा की ओर अग्रसर किया और उसी के अनुसार विषयों का चुनाव भी किया। इन्होंने विषय-गाम्भीर्य की ओर भी काफी ध्यान दिया है; किन्तु अपने विषय को समझाने की पूर्ण चेष्टा की है। जिस विषय को यह उठाते हैं उस विषय का प्रतिपादन कर लेने के बाद "सारांश यह है" लिखकर उसे दुबारा समझाने की चेष्टा करते हैं जिससे उसका पूर्ण रूप से बोध हो जाय। इसलिए सरलता की मात्रा भी इनकी भाषा में पर्याप्त रूप से है। बाबू साहब विदेशी भाषा और विदेशी भावों के ग्रहण करने के पक्ष में होते हुए भी उसे शुद्ध रूप से ग्रहण करने के समर्थक हैं। जिससे हिन्दी भाषा में उनका सम्मिलन सरलता से हो सके। इनकी भाषा-शैली का यह गुण है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता में भी समासांत पदावली

का प्रयोग बहुत न्यूनरूप में दिखाई देता है। शब्द-विधान में कितनी उत्कृष्टता और विशदता है यह इनकी भाषा से पूर्ण रूप से प्रगट हो सकता है। शब्दों का संगठन और प्रयोग भी भावों के अनुरूप हुआ है। जब किसी विचार का प्रतिपादन होने लगता है तो व्यवस्थित प्रवाह में तनिक भी अन्तर नहीं आने पाता। परन्तु इनके जो ग्रंथ अँग्रेजी के आधार पर अथवा अनुवाद रूप से लिखे गये हैं उनमें भाषा और भावों की जटिलता स्पष्ट दिखाई देती है। बाबू साहब का विचार है कि विराम आदि चिन्हों के व्यर्थ आडम्बर से भाषा और भी क्लिष्ट और दुरूह हो जाती है। आपने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— "जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग सर्वथा वांछनीय है। और सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती है।" इन्हीं दो मार्गों पर चलकर इन्होंने भाषा शैली का विकसित स्वरूप प्रकट किया है। 'साहित्यालोचन' 'रूपकरहस्य' और 'भाषाविज्ञान' नामक पुस्तकों में इनकी जो शैली देखी जाती है,वह सुबोध नहीं है। इसका कारण विषय-गाम्भीर्य और अँगरेज़ी का आधार भी हो सकता है। परन्तु "हिन्दी भाषा और साहित्य" तथा "गोस्वामी तुलसीदास" इत्यादि इनके नवीन ग्रन्थों से इनकी प्रगतिशील भाषा-शैली का पूर्ण परिचय मिलता है। बाबू साहब हिन्दी भाषा के एक बहुत बड़े महारथी हैं।

पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी ने पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र विद्यावारिधि की बिहारी-सतसई की टीका की आलोचना "सतसई-संहार" के नाम से 'सरस्वती' में छपवाई थी। इसी से पहले पहल हिन्दी-क्षेत्र में आपकी काफी प्रसिद्धि हुई। ये फारसी, उर्दू और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इसलिए इन भाषाओं का इनकी लेखनशैली पर अच्छा प्रभाव है। हिन्दी साहित्य में शर्मा जी तुलनात्मक आलोचना के जन्मदाता माने जाते हैं। इसके बाद अन्य लेखकों ने तुलनात्मक आलोचना की ओर ध्यान दिया। शर्मा जी की आलोचनाओं में

उनकी वैयक्तिक छाप है। इनकी भाषा शैली सजीव, सुन्दर,मुहाविरेदार और कहीं कहीं व्यंगात्मक भी है। उसमें एक निराला बांकपन है, जो अन्य गद्य-कारों में प्रायः नहीं देखा जाता। यद्यपि शर्मा जी की आलोचनात्मक पद्धति वर्तमान समय को देखते हुए बहुत उच्च और परिष्कृत नहीं है, तथापि तुलनात्मक आलोचना के जन्मदाता के रूप में शर्मा जी का स्थान महत्वपूर्ण अवश्य है। इनकी रचनाशैली में एक विशेष प्रकार का आकर्षण है, जिससे विषय-ज्ञान के साथ साथ पाठकों का मनोरंजन भी होता जाता है। जी नहीं ऊबता। किन्तु गम्भीर विवेचन शर्मा जी की शैली में नहीं प्राप्त होता। गवेषणात्मक लेखों के लिए शर्मा जी की भाषा उपयुक्त नहीं है। इसी कारण इनके आलोचनात्मक तथा विवेचनात्मक लेखों में कहीं कहीं भाषा की अस्वाभाविकता खटकने लगती है। शर्मा जी की भाषा में हिन्दी-उर्दू-मिश्रित शब्दों का प्रयोग बड़े मौजूं ढंग से हुआ है। किस विषय को किस प्रकार कहकर आनन्द की धारा प्रवाहित की जा सकती है, यह इनकी भाषा-शैली से स्पष्टतः प्रगट होता है। जहाँ कहीं भावों का प्राबल्य हुआ है वहाँ भाषा स्वाभाविक रूप से कुछ गम्भीर भी हो गई है और ओज तथा प्रसाद गुण की विशेषता आ गई है। शर्मा जी की भाषा में दुरूहता कहीं नहीं दिखाई देती। इसका कारण यह है कि उनकी भाषा मुहाविरेदार है; और उर्दू के मौजूं शब्दों का प्रयोग तथा हास्य-व्यंग का समावेश इनकी शैली में एक नया रंग उत्पन्न कर देता है। सारांश यह है कि शर्मा जी की भाषा हृदय पर चोट करने वाली, गुदगुदानेवाली और मर्मस्पर्शी है और हिन्दी के आलोचकों में इनकी शैली बिलकुल निराली है। इनकी बिहारी सतसई की भूमिका और टीका देखने योग्य है। इनके फुटकर निबन्धों का एक संग्रह "पद्मपराग" के नाम से निकल चुका है। उसमें इनकी भाषा-शैली का आनन्द दिखाई देता है।

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी-गद्य-शैली के विकास में पंडित रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों का उच्च स्थान है। व्यक्तिगत रूप से शुक्ल जी जितने गम्भीर थे, वही गम्भीरता

उनकी शैली में भी पूर्ण रूप से व्याप्त है। भाषा बड़ी संयत, व्याकरण की दृष्टि से विशुद्ध और पौढ़त्व को प्रदर्शित करनेवाली है। इनकी भाषा गम्भीरता के साथ क्लिष्ट होती है, और उसका मर्म साधारण कोटि के पढ़े-लिखे व्यक्ति नहीं समझ सकते। विवेचनात्मक गवेषणात्मक विचारों का अनुभूतिपूर्वक वर्णन करना शुक्ल जी पूर्ण रूप से जानते थे। आलोचना और निबंध-लेखन इनका प्रधान विषय है। अँगरेज़ी साहित्य में जिस प्रकार गम्भीर आलोचना होती है, और विषय को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार मनन और चिंतन का सहारा लिया जाता है शुक्ल जी की शैली भी उसी के अनुरूप है और वह साधारण कोटि की न रहकर विद्वानों और मनन-शीलों की चीज़ बन गई है। विचारधारा कहीं विकृत नहीं दिखाई देती वरन् विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का निदर्शन करना इनकी प्रकृति के अनुकूल है। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'रहस्यवाद' और 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका से शुक्ल जी की गम्भीर और मनन-शील आलोचनात्मक प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है 'विचारवीथी' शुक्ल जी के निबंधों का संग्रह है। इसमें साहित्यिक विषयों पर गम्भीर और विद्वता-पूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं। इन निबंधों से प्रकट होता है कि लेखक व्यावहारिक और बोधगम्य भाषा में मानवीय जीवन से संबद्ध विषयों के सूक्ष्म विवेचन में कितना सिद्ध है। लेखक [illegible] अपने विचारों को प्रकट करता है तो उसे न्यून या संक्षिप्त वि[illegible] मिलता वरन् किसी विचार को प्रगट करके उसे और भी स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। इसी लिए उच्च श्रेणी के विद्यार्थी और साहित्यरसिक जन शुक्ल जी की लेखन-शैली से काफ़ी प्रभावित होते हैं; और उनका ज्ञान भी बढ़ता है। इनकी रचनाशैली में गम्भीर विवेचन के साथ ही साथ कहीं कहीं मधुर हास्य और व्यंग की उद्भावना भी दिखाई देती है। किन्तु उस व्यंग में भी गम्भीरता होती है। इससे रचनाशैली मे चमत्कार आ जाता है। इनकी भाषा में विषयानुकूल संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक पाया जाता है। आप ने हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में कुछ नवीन पारिभाषिक शब्द भी प्रचलित किये हैं।

शुक्ल जी के पूर्व आलोचना-पद्धति का कोई निर्धारित रूप नहीं था आलोचनायें तो काफी संख्या में लिखी गई थीं; किन्तु भाव, भाषा और विचार की दृष्टि से उनमें उत्कृष्टता कम थी। शुक्ल जी ने आलोचना की एक ऐसी शैली प्रचलित की जो व्यवस्थित है और उसका प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ रहा है। आपने साहित्य-शास्त्र का पौर्वात्य और पाश्चात्य ढंग पर बहुत सुन्दर अनुशीलन किया था; और इस दृष्टि से हिन्दी संसार पर आपका प्रभाव बहुत दिनों तक बना रहेगा।

पुरुषोत्तमदास टंडन

टंडन जी देश के उन्नायकों में जहाँ अपना एक विशेष स्थान रखते हैं वहाँ हिन्दी के उन्नायकों में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ऐसी सार्वजनिक संस्था का संस्थापन और संचालन टंडनजी की अनवरत हिन्दी-सेवा का ज्वलन्त उदाहरण है। राष्ट्रीय महासभा के अन्तर्गत हिन्दी का प्रवेश कराने में भी टंडन जी का मुख्य हाथ रहा है। राष्ट्रहित के भिन्नभिन्न कार्यों में लगातार व्यस्त रहने के कारण आप हिन्दी-लेखन की ओर विशेष रूप से तो अग्रसर नहीं हो सके; किन्तु स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट और महामना मालवीय जी के सत्संग से हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के प्रेम का अंकुर आपके हृदय में युवावस्था में उदय हुआ, वह बराबर पल्लवित होता गया; और सन् १९०७ में आप "अभ्युदय" के सम्पादक के रूप में हिन्दी-संसार के सामने आये। तब से आज तक बराबर आप हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य और नागरी लिपि के प्रचार और उन्नति में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करते रहते हैं। आपने कई छोटी-मोटी पुस्तकों के अलावा कुछ स्फुट निबंध भी लिखे हैं। आपकी भाषा बहुत परिमार्जित होती है। संस्कृत के प्रचलित तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोग के साथ ही साथ आवश्यकतानुसार आप उर्दू शब्दों को भी ग्रहण कर लेते हैं। टंडन जी की लेखनशैली आवेशयुक्त और वक्तृत्व के समान धाराप्रवाह होती है। आप एक ही वाक्य को दोहरा कर उसे और अधिक

प्रभावशाली बनाने में अधिक पटु हैं। टंडन जी हिन्दी के इतने अधिक पक्षपाती हैं कि शास्त्रों तथा धार्मिक कर्मकाण्ड के संस्कृत मंत्रों को भी हिन्दी रूप देकर प्रचलित करना चाहते हैं। आपका यह मत है कि संध्या इत्यादि धार्मिक कर्म और विवाह इत्यादि संस्कार हिन्दी भाषा के ही द्वारा होने चाहिए; और आप स्वयं भी इस पर अमल करते हैं। भाषाशैली में लम्बे लम्बे वाक्य लिखने के टंडन जी विशेष पक्षपाती नहीं हैं, वरन् मुहाविरेदार-सुसंस्कृत छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग आप उचित समझते हैं। व्याकरण पर टंडन जी का अधिकार है, और वे व्याकरण-सम्मत भाषा अधिक पसन्द करते हैं। फिर भी आपकी राय है कि राष्ट्रीय भाषा की दृष्टि से यदि हिन्दी व्याकरण कुछ जटिल बंधनों से मुक्त रहे, तो इसके प्रचार में विशेष सुविधा होगी। हिंदी को व्यावहारिक भाषा बनाने, उसे सार्वजनिक रूप देने और राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के उद्योग में टंडन जी का विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रेमचन्द

उपन्यास और कहानी क्षेत्र में स्वर्गीय प्रेमचंद जी का स्थान उच्च कोटि का है। यों तो उपन्यास की रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी; किन्तु उसको व्यापक स्वरूप श्री प्रेमचन्द जी की ही रचनाओं के द्वारा प्राप्त हुआ। ज्यों ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ा त्यों त्यों उपन्यास-रचना में भी परिवर्तन हुआ। पहले कथानक और विचित्रता की ही दृष्टि से उपन्यासों की रचना होती थी, किन्तु श्रीप्रेमचंद जी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उसे स्थायी रूप दिया। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' 'गबन' 'गोदान', इत्यादि उपन्यासों तथा 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेमपचीसी' आदि कहानी-संग्रहों से प्रेमचंद जी की वस्तु, भावावेश, भाषा, चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन की प्रौढ़ता का ज्ञान प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद जी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। प्रेमचंद जी प्रथम उर्दू में लिखते थे। इसलिए हिन्दी के क्षेत्र में आने पर भी उनकी

भाषा में उर्दूपन का प्रभाव बराबर बना रहा। और यह बात उपन्यास और कहानियों की रचना में उनके लिए शोभादायक ही सिद्ध हुई; क्योंकि उर्दू के प्रभाव से उनकी हिन्दी-भाषा-शैली भी विशेष मुहाविरेदार बन पड़ी, जो उपन्यास और कहानियों के लिए विशेष अनुकूल हुई। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी की भाषा इतनी व्यापक, व्यावहारिक और आकर्षक है कि पाठकों का ध्यान उस ओर एकाएक आकर्षित हो जाता है। वास्तविकता के चित्रण में प्रेमचन्द जी अपना सानी नहीं रखते। ग्रामीण के चरित्र चित्रण में लेखक अपनी वास्तविक शैली और प्रतिभा का चमत्कार दिखलाता है। मुहावरे तो प्रेमचन्द जी की भाषा की जान हैं। किस मौके पर क्या बात किस तरह कहना चाहिए, समय की प्रगति किस ओर है, इन विचारों के अनुकूल प्रेमचन्द जी अपनी भाषा का निर्माण करते हैं। इनकी रचनाओं में जहाँ हमें भाषा का चलता हुआ रूप मिलता है वहाँ भावुकता भी कहीं कहीं स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऐसे अवसर पर भाषा संयत और भावुक हो गई है। समय समय पर अवसर के अनुकूल देहाती तथा प्रान्तीय भाषा का भी प्रयोग प्रेमचन्द जी ने किया है। प्रायः छोटे छोटे वाक्यों की रचना में लेखक अपने सुलझे हुए विचार प्रगट करता है। मानव स्वभाव के वास्तविक चित्रण में प्रेमचन्द जी की भाषा ने बड़ा सहयोग दिया है। हिन्दी में उर्दू शब्द और मुहाविरों का प्रयोग किस भाँति होना चाहिए इसका वास्तविक परिचय प्रेमचन्द जी की भाषा से होता है।

जयशंकरप्रसाद

नाटक-रचना का आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही हो जाता है; और उस काल में अनेक नाटक लिखे तथा अनूदित किये गये; किन्तु उच्च विचारों, भावावेश तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। बाबू जयशंकरप्रसाद के नाटकों द्वारा नाटक साहित्य में एक नवीन जागृति हुई है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'एक घूँट'; 'कामना' इनके उच्च कोटि के नाटक हैं। इन नाटकों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति का

पुनरुद्धार करना है। इन नाटकों से प्रसाद जी की भाषा-शैली का वास्तविक रूप से पता चलता है। भावावेश इन नाटकों की प्रधानता है। नाटककार स्वयं कवि हैं। इसलिये कथोपकथन में उनके कवित्वपूर्ण हृदय का अच्छा चित्र प्राप्त होता है। मानवी भावनाओं का सुन्दर चित्रण प्रसाद जी ने किया है। इनकी रचना में उर्दू पदावली का अभाव है, शैली शुद्ध संस्कृत शब्दों के अनुकूल है। न तो क्लिष्ट ही है न साधारण ही। यद्यपि प्रसाद जी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया है; किन्तु भाषा, गम्भीर, विशुद्ध और परिमार्जित रूप में अंकित हुई है। लेखक ने जहाँ भावात्मक विचारों का कथन किया है वहाँ उसने सरल वाक्यों का प्रयोग किया है। प्रसाद जी की रचनाओं में मुहाविरों की प्रायः कमी पाई जाती है—फिर भी माधुर्य और व्यंजना में न्यूनता नहीं आने पाई। धारा-प्रवाह का गुण प्रसाद जी की भाषा में अधिक पाया जाता है। ऐसे स्थल पर जहाँ भावावेश होता है, रोचक विवरण देने में लेखक ने सुन्दर पदावली और छोटे वाक्यों का आश्रय लिया है। भाषा प्रायः परिपक्व और ओजस्वी है। नाटकों के अति-रिक्त लेखक ने मौलिक कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं। उनकी भी शैली भावावेश की ओर अधिक है। मानव हृदय की अनुभूतियों का चित्रण करने में प्रसाद जी सफल रचनाकार हैं। विषय निर्वाचन, शब्दचयन और वाक्य-विन्यास सभी इनकी कहानियों में सुन्दर हैं। चमत्कारिकता के साथ साथ वास्तविकता के अंकन में भी इनकी गद्य-शैली विशेष सफल हुई है। इस प्रकार प्रसाद जी की गद्य-रचना-शैली चमत्कारपूर्ण, सरस और मार्मिक है। उससे हिन्दी गद्य को—विशेषतः नाटक और कहानी-रचना में—विशेष बल प्राप्त हुआ है।

बदरीनाथ भट्ट

हिन्दी के विनोदात्मक साहित्य के सृजन में भट्ट जी का विशेष हाथ है। 'गोलमालकारिणी सभा' की रिपोर्टों और 'मिस्टर की डायरी' के नोटों को जिन लोगों ने पढ़ा है वे भट्ट जी की विनोदात्मक शैली की प्रशंसा किये

बिना न रहेंगे। इनकी शैली चलती हुई, सर्वसाधारण की समझ की वस्तु है। मार्मिक व्यञ्जना के साथ वास्तविकता का विनोदपूर्ण ढंग से चित्रण करना इनकी हास्य-रस के गद्य शैली की विशेषता है। इनकी रचना में उर्दू-हिन्दी की शब्दावली का भली भाँति प्रयोग किया गया है। अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी उपयुक्त ढंग पर हुआ है। भट्ट जी की रचनाओं में धारा प्रवाह शैली का सच्चा स्वरूप दिखाई देता है। उनके हृदय के विचार मानो साकार रूप धारण करके सामने आ रहे हैं। हास्यरस की रचनाओं के अतिरिक्त नाटकों की रचना में भी भट्ट जी सफल लेखक थे। 'चन्द्रगुप्त', 'तुलसीदास', 'दुर्गावती', 'टटोलूराम टलाश्री', 'चुँगी की उम्मेदवारी' तथा 'विवाह-विज्ञापन' इत्यादि उनकी उत्कृष्ट रचनायें हैं। इनकी भाषा बड़ी मुहाविरेदार, व्यावहारिक, विशुद्ध और चलती हुई है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी भट्ट जी की शैली उत्कृष्ट है; किन्तु इसमें भी इनकी प्रधान हास्यरस की शैली का प्रभाव पड़ा है। भावुकता और व्यंगात्मक हास्य का सामंजस्य नहीं होता। इसी लिए भावावेश की दृष्टि से इनकी रचनायें उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं जितना वास्तविक चित्रण और हास्यरस की दृष्टि से। इनकी रचना-शैली हिन्दी-साहित्य में अनोखी है; और अपनापन लिये हुए है। सरसता, खरापन, स्पष्टता और मनोरंजन, सम्मिलित भाषा का सामंजस्य इसका प्रधान गुण है।

राय कृष्ण दास

राय कृष्णदास जी हिन्दी संसार में 'साधना' द्वारा उपस्थित हुए। भाव प्रकाशन की सुन्दर और विचित्र शैली तथा मानव हृदय की अनुभूतियों को चित्रित करने की अपूर्व कला, यही इनकी विशेषता है। गद्य-काव्य की सुन्दर शैली की पुष्टि राय कृष्णदास जी की रचनाओं से हुई है। इनमें अनुभूति और कल्पना की प्रधानता सर्वत्र देखी जाती है। भाषा का प्रवाह संयत और गंभीर है। राय साहब की गद्य-शैली भावनाप्रधान होते हुए भी व्यावहारिक है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का काफी प्रयोग होते हुए भी सरलता नष्ट

नहीं हुई। वाक्य छोटे छोटे, पर गंभीर भावों से भरे हुए हैं। इनकी रचना में भाव-व्यंजना का प्रदर्शन बहुत ही सुन्दर रीति से हुआ है। आत्मा की अनुभूति करुणरस से पूर्ण है। वाक्यों का सगठन सुन्दर हुआ है। राय साहब की रचना में चमत्कार है। आकर्षण है, उन्माद और लालित्य है। आप सांसारिक घटनाओं में पाठकों का मन नहीं लगाये रहना चाहते; वरन् स्वर्गीय विभूति और कल्पना का दर्शन कराना चाहते हैं। भाषा की मधुरता की ओर इनका अधिक ध्यान है। तात्पर्य यह है कि नित्य व्यवहार में आने वाले विशुद्ध शब्द इनकी रचना में प्रयुक्त हुए हैं जो स्वाभाविकता की रक्षा करते हैं। साधारण बात को वे अलंकारिक ढङ्ग से कहना अधिक उचित समझते हैं। भाव-व्यंजना में वे अपनी मनोहर शैली का उपयोग करते हैं और भाव ही उसका आधार है। कथन-प्रणाली में महत्वपूर्ण आकर्षण है। राय कृष्ण-दास जहाँ गद्य-काव्य को प्रश्रय देने वाले हैं वहाँ कहानी-रचना में भी सफल हैं। इनकी कहानियों से भी स्वानुभूति की मार्मिकता व्यंजित होती है। भावना की प्रधानता का दर्शन इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है। राय कृष्णदास की रचनाएँ कला प्रधान होती हैं। क्योंकि आप स्वयं कला के मर्मज्ञ और पारखी हैं।

वियोगी हरि

वियोगी हरि की गद्य-शैली भी भावना प्रधान है; किन्तु प्रकाशन शैली में अन्तर है। वियोगी हरि के भावना-प्रकाशन में भक्ति का अधिक समावेश 'अन्तर्नाद' में इनके गद्य-काव्य का उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है फिर भी व्यवहारिकता और लोकाचार की शैली के अनुरूप इनकी रचनाएँ नहीं हैं। इनमें आत्मानुभूति का ही उत्कृष्ट दर्शन प्राप्त होता है। भाषा को लच्छेदार और संस्कृत पदावली से पूर्ण बनाने की ओर लेखक का ध्यान अधिक है। यह निश्चित है कि जब लेखक गद्य-शैली के बाह्य सौंदर्य की ओर ध्यान देता है तो आन्तरिक सौंदर्य स्वभावतः कृश पड़ जाता है। वियोगी हरि की रचनायें कहीं कहीं इतनी क्लिष्ट हो गई हैं कि संस्कृत के कवि बाण

की 'कादम्बरी' का स्मरण हो आता है। भाव-व्यंजना दुरूह, संस्कृत की तत्समता और समासांत पदावली के प्रयोग से वियोगी हरि की रचना कहीं कहीं जटिल हो गई है। इस प्रकार की शैली साधारण जनों की बुद्धि के परे हो जाती है। ऐसी रचनाओं से गद्य-काव्य का एक स्वरूप तो उपस्थित हो जाता है; किन्तु पढ़ने वाला केवल शब्द-जाल की भूलभुलैयों में पड़ जाता है। और 'बिम्बग्रहण' के आत्मानन्द का वह अनुभव नहीं कर पाता। इसीलिए व्यवहारिकता और लौकिकता की दृष्टि से वियोगी हरि की गद्य-रचना-शैली उतनी सफल नहीं हुई है जितनी कि विद्वानों और मार्मिक व्यक्तियों की दृष्टि से सफल हुई है। संस्कृत शैली के अनुशीलन से वियोगी हरि का गद्य प्रायः अलंकारिक हो गया है। अनुप्रास, यमक इत्यादि अलंकारों की बाढ़ सी आ गई है। जहाँ एक ओर संस्कृत के वाक्यविन्यास और तत्समता की भरमार दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर उर्दू के चलते शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। कहीं कहीं तो उर्दू शब्दावली के ये अस्थानीय प्रयोग खटकने वाले भी हैं। और कहीं कहीं इसीसे स्वाभाविक सरलता भी आ गई है। वियोगी हरि जी की उक्त शैली सभी जगह प्रयुक्त नहीं हुई है, वरन् इनकी कई रचनाओं में चलती हुई भाषा का भी प्रयोग पाया जाता है। ऐसे स्थल पर भाषा विशेष व्यावहारिक, मधुर, शुद्ध और लालित्यपूर्ण हुई है। बात यह है कि वियोगी हरि जी एक स्वच्छन्द, भावुक और लहरी लेखक हैं। जैसी लहर आगई; वैसा ही लिखना शुरू कर दिया। आपकी लेखनी में चमत्कार है; और 'साहित्यविहार', 'अन्तर्नाद', 'पगली' इत्यादि इनकी कई रचनाएँ हिन्दी साहित्य के लिए गौरव स्वरूप हैं।

शिवपूजन सहाय

सामयिकता का प्रभाव हिन्दी के जिन गद्य-शैलीकारों पर पड़ा है उनमें बाबू शिवपूजन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। भाषा की विशुद्धता इनका प्रधान लक्ष्य है। मुहाविरे और उर्दू शब्दों का मौजूँ प्रयोग इनकी रचना में पाया जाता है माधुर्य्य और ओज सम्मिश्रण ऐसे स्थलों पर विशेष

पाया जाता है जहाँ लेखक को चलती भाषा का निर्वाह करना पड़ा है। इस प्रकार इनकी शैली परिष्कृत, सतर्क और परिमार्जित हो गई है। विषय के अनुकूल भाषा बनाने में शिवपूजन सहाय की लेखनी विशेष कुशल है। यही कारण है कि इनकी भाषा में चमत्कार के साथ साथ आकर्षण अधिक मात्रा में मौजूद है। भाषा की विशुद्धता और उत्कृष्टता के साथ साथ अलंकारिकता की ओर भी इनका ध्यान है। इसी लिए इनकी साधारण भाषा भी गद्य-काव्य का आनन्द देती है। उपमा, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का निर्वाह स्वाभाविक रूप से इनके गद्य में यथास्थान पाया जाता है। इससे इनकी भाषा में लालित्य और सौन्दर्य आ गया है। कहीं कहीं दीर्घ समासान्त पदावली की मनोरम छटा भी दिखाई देती है; ऐसे स्थलों पर कल्पना और भावना का मिश्रित रूप दृष्टिगोचर होता है। इनकी शैली में कहीं कहीं भाषा धाराप्रवाह चलती है; और कहीं कहीं पद्यात्मक तुकान्त भी दृष्टिगोचर होता है। वाक्य छोटे छोटे, गम्भीर और संयतरूप में प्रयुक्त हुए हैं। रोचकता, व्यावहारिकता, और चलती-भाषा का रूप भी इनकी रचनाओं में पाया जाता है। विहार प्रान्त के आप सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-लेखक हैं।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र

बाबू शिवपूजन सहाय की रचना की भाँति उग्र जी की रचनाओं पर सामयिकता का अच्छा प्रभाव पड़ा है। उग्र जी ने सामयिक कहानियों की रचना करके अपनी गद्य शैली को एक विशेषता प्रदान की है। कथन-प्रणाली का ऐसा शक्तिशाली स्वरूप इनकी रचनाओं में पाया जाता है जो अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। भावावेश आंधी की भाँति उठता है और वह रचना को ओजस्वी तथा शक्तिशाली बना देता है। कहीं कहीं इनके शब्द और वाक्य मानो आग उगलते हुए चलते हैं। उग्र जी की स्वाभाविक लेखनशैली में संस्कृत तत्समता, समासान्त पदावली और अव्यवहारिक शब्दों का प्रयोग नहीं दिखाई देता। भाव-व्यंजना की स्वाभाविकता के दर्शन प्रायः

सर्वत्र होते हैं। नित्य के व्यवहार और बातचीत में जिस स्वाभाविक भाषा का प्रयोग होता है वही इनके गद्य में प्राप्त होता है। इससे शैली रोचक और आकर्षक हो गई है। स्थान स्थान पर उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है, और अँगरेज़ी के भी, जो अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। इनकी धारा-प्रवाह शैली में कहीं कहीं शब्दों का उलट फेर भी दिखाई दे जाता है और कहीं कहीं अलंकृत भाषा भी पाई जाती है। तात्पर्य यह है कि उग्र जी की शैली में नवीन युग का उत्कर्ष, उत्साह और भावावेश अधिक मात्रा में मौजूद है। इनकी अपनी स्वतंत्र भाषाशैली और स्वतंत्र रचनाक्रम एक अलग आदर्श रखता है।

हिन्दी गद्य निर्माण

राजा भोज का सपना

[लेखक—राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद]

वह कौन सा मनुष्य है जिसने महा प्रतापी राजा महाराजा भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते, सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिए ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने को बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चाँद्रायण किये थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद्ऋतु में संध्या के समय सुन्दर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुण्ड के तीर जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जल पक्षी किलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे स्वस्थचित्त बैठा हुआ वह महलों की सुनहरी कलसियाँ लगी हुई संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन

एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव जंतु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत उपवास करते करते फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं तो फिर और कौन हो सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है। वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू !" श्रीमहाराज सलामत भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएँ जिनके वास्ते आपने हुकम दिया था बन कर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता आपकी बढ़ती दौलत मानता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं कोस कोस पर कुएँ खोदवाकर सदाव्रत बैठा दे और दुतरफ़ा पेड़ भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार ! वह जो पांच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं तो डेवढ़ी पर हाज़िर हैं।" राजा ने कहा—"अब पांच के बदले पचास हजार को मिला करें और रजाई की जगह शाल दुशाले दिये जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और ख़बर दी कि 'महाराज ! उस बड़े मंदिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुकम हुआ है आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदल कर उस दारोगा को खूब झुड़का "अरे मूर्ख वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है ? बिलकुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान भी उसे

देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज ! क्यों न हो ! जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानो धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आप से बढ़ कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यास जी ने कथा आरंभ की,भजन कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज ! आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे पर राजा को ऊँघ आती थी वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलंग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदांत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थरों में जड़ तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुल बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराज की डंडियों के पन्ने के पत्ते निकाल कर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौज़ों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मानों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा ? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है, दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मन्दिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हज़ारों सूर्य्य से भी अधिक है परन्तु जैसे सूर्य्य को बादल घेर लेता

है उस प्रकार उसने मुँह पर घूँघट सा डाल लिया है; नहीं तो राजा की आँखें कब उस पर ठहर सकती थीं, इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और खड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधों की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मन्दिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजलाने लगा। सत्य बोला, भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूं। सत्य बोला, 'ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं? पर सूर्य्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक-एक बूँद में हज़ारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मन्दिर के ऊँचे दर्वाजे पर

चढ़ा ले गया जहाँ से सारा बाग़ दिखलाई देता था और फिर वह उनसे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन-कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा। राजा यह सुन के अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्य कर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गईं थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक मिलेगा, तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य्य मंडल में लोग कलंक बताते हैं पर तुम पर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेड़ों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूँठ से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? तो सचमुच उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं? चल, उन पेड़ों के पास चल-कर देखें तो सही! तेरी समझ में तो ये लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान

के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाये हैं।" निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल जैसे आसमान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई, पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा! जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने भुलाने की प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूँठ का ठूँठ रह गया। जो तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिए, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं किया यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था।"

भोज ने एक ठंडी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सब से अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला "राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिये थे। कहने वाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बे-नीव का घर है, बुढ़िया के दांतों की तरह हिलता है, अब गिरा तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से?"

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यन्त लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे

अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो निरहंकार केवल भक्ति और जीवों की दया से की हो ! तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर गनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है। पर यह तो बतला कि मन्दिर के उन मुँडेरों पर वे जानवर से क्या दिखाई देते हैं; कैसे सुन्दर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फीरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिये हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुर-फुरी ली। मानों बुझते हुए दीये की तरह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मन्दिर की मुँडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जाग जागकर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मन्दिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वंदना और बिनती प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुंचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि राजा, दीनबन्धु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की बिनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य्य चाँद को बेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मन्दिर के मुँडेरे पर बैठे रहे ! आ चल, देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं।

भोज डरा लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुन्दर दिखलाई देते थे मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहां तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़फा जरूर किए पर उड़

ज़रा भी न सके। सत्य बोला "भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति बंदना और बिनती प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं।" जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि "दीनबंधु दीनानाथ दीनहितकारी! मुझ पापी महा अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर" तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती। राजा ने सर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि भोज! अब आ, फिर इस मन्दिर के अन्दर चलें और वहाँ तेरे मन के मन्दिर को जांचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मन्दिर में ऐसे ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट घट अन्तर्यामी सकल जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिंचा फिर मन्दिर के अन्दर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ जहां जहां मुलम्मा उड़ गया था भीतर की ईंट पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले काले दाग रह गये थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्काबक्का बन गया। उसने धीमी आवाज़ से पूछा कि ये टिड्डीदल की तरह इतने दाग इस मन्दिर में कहां से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा ये दाग जो तुझे इस मन्दिर में दिखलाई देते हैं दुर्वचन हैं जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किये हैं। याद तो कर तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त

प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबर वाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिए तैने कैसी कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं तो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही बही में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट घट निवासी अनंत अविनाशी को एक एक बात जो तेरे मुँह से निकली है याद है और याद रहेगी। उसके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।

भोज ने सिर उठाया पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकला कि दाग तो दाग पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि "राजा क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ! स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था ! मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यहाँ मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तों को यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला "राजा सिवाय तेरे इनको यहाँ कौन आने देगा ? तू ही तो इन सब को लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर

मिट जाती हैं। पर रे मूढ़! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं वे सब काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के संकल्प-विकल्प हैं जो दिन रात तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगो और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुन्दर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला ?"

राजा ने एक लम्बी ठंडी साँस ली और अत्यन्त निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार से निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मन्दिर वरन् सारी धरती, आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मन्दिर की एक दीवार की ओर देखा तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नगे इस आईने में दिखाई देते जिन्हें राजा खाने पहनने को दे सकता था पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुसंड खाते पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफ़ारिश ले आते थे या इसके कारदारों को घूस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते

और शोर गुल मचाते मचाते उसे तंग कर डालते थे या दरबार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक लगाकर उसे भक्त के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुन्दर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चंगा करा देना राजा के अख्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठंडा और सन्तुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के-लड़कियों को देखता था, जिन्हें वह पढ़ा-लिखाकर अच्छी-अच्छी बातें सिखा कर बड़े-बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गाँव और इलाकों को देखता जिनमें कुएँ तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती बारी की नई नई तरकीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घबराकर हाथों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था, पर उसने उन कर्त्तव्य कामों का भी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला "राजा अभी से क्यों घबरा गया? आ इधर आ इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किये हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा, अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनन्द को इस मन्दिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है?

चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा "ठीक पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है ? यदि तूने भगवान् को इस मन्दिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता। जरा आँख उठाकर उस मूर्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि 'मूर्ख तूने जो काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिए। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिए तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख सकल जगत्स्वामी घटघट अन्तर्यामी क्या ऐसे मानरूपी मन्दिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है ? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी काँप उठी मानों उसी दम टुकड़ा टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ गरजा। मन्दिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा,' कहके भोज जो चिल्लाया तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीगन राजा का यश गाने लगे, हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा पर जी भारी, माथा थामे हुए; न हवा अच्छी लगती थी, न गाने बजाने की कुछ सुध-बुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हों जल्द उनको मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग

सपना मालूम होता है । उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं ।" राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी, चोबदारों ने तीन पंडितों को जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया । राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था । उसने पूछा कि "वह कौन सा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे ?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए, आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा सन्देह क्यों उत्पन्न हुआ ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहन के बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है ।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अधिक अपनी वाणी को परिश्रम न दीजिये और इसी दम अपने घर की राह लीजिए । क्यों आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है ? बुद्धि की आँखों को बन्द किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता । मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है । यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा ।"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनन्दस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारापार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपा दृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है ।" राजा ने आँखें दिखला के कहा कि "महाराज ! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया कि किसी पापी को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानों हरबोंगपुर का राज करता है । इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह काँटे चुनता है । क्या उस लोक में, जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घट घट अन्तर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा ? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अन्तः

करण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों जबान खोली की "महाराज! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा जैसा कि हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फर्माते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर ये इतने प्रायश्चित्त और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किस लिये बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और बैकुण्ठ में अपने पास रहने को ठौर देवे।" राजा ने कहा "देवता जी, कल तक तो मैं आप की सब बात मान सकता था लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी को फुसला लेना तो सहज है पर उस घट घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे। जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे पुण्यकर्म कोई कहां से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न रात में देखा था सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडित जी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश हो कर चाहा कि तुषानल में जल मरे पर एक परदेशी आदमी सा जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था सोचता विचारता उठकर खड़ा हुआ और धीरे से यों निवेदन करने लगा "महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिए पर उस राह को ढूँढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए पर उसी से उस राह को पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए।" हे पाठक जनो! क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और भगवान् से उसके मिलने की प्रार्थना करते हो? भगवान् तुम्हें शीघ्र ऐसी बुद्धि

दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अंतःकरण का आशीर्वाद है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

कश्मीर

[राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के "भूगोल हस्तामलक" से]

(हम भूमिका में लिख चुके हैं कि राजा शिवप्रसाद जी विशुद्ध हिंदी और मिश्रित भाषा दोनों शैलियों के सुलेखक थे। "राजा भोज का सपना" उनका विशुद्ध हिंदी का नमूना है; और यह "कश्मीर" संबंधी लेख उनकी मिश्रित शैली का उत्तम उदाहरण है। इसी तरह की हिंदी भाषा को अब कुछ लोग "हिंदुस्तानी" कहकर फिर से लिखने लग गये हैं। "इतिहास अपने को दोहराता है" यह सच जान पड़ता है; परन्तु राजा साहब की सी अनोखी रचना-शैली अब दुर्लभ है। इस विषय में स्वर्गीय उपाध्याय पं० बदरीनारायण जी चौधरी का कथन हमको यहाँ पर याद आता है। तृतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिये हुए भाषण में उपाध्याय जी कहते हैं :—

"अतएव उसके दूसरे (पं० लल्लूलाल जी के बाद) सुलेखक राजा शिवप्रसाद जी को ही उसका (हिंदी गद्य का) परमाचार्य अथवा आदि सुलेखक वा ग्रंथकार कहना चाहिये। क्योंकि जैसी अनोखी और पुष्ट भाषा उन्होंने लिखी आज तक फिर कोई न लिख पाया। जिस काट-छाँट का ढँड़ा वह बना गये, वह उनकी बहुत बड़ी योग्यता का साक्षी है। ठेठ हिंदी की सजावट, सुगम संस्कृत और पारसी आदि शब्दों की मिलावट से जैसी सुथरी, सुन्दर और चुस्त इबारत की धारा उनकी लिखावट में आई फिर किसी भी लेखनी से न निकल सकी।"

राजा साहब की विचित्र वर्णनशैली और दोनों प्रकार की भाषाशैली दिखलाने के लिए ही हमने उनके दो लेख यहाँ पर दिये हैं।)

यह इलाका महाराज गुलाबसिंह की औलाद के कब्जे में है। रावी और सिन्धु नदी के बीच प्रायः सारा कोहिस्तान इसी इलाके में गिनना चाहिये

वरन् हिमालय पार लद्दाख़ का मुल्क भी जो हिन्दुस्तान की हद से बाहर और तिब्बत का एक भाग है अब इस इलाके के साथ महाराज के पास है और इस हिसाब से यह राज वायुकोन से अग्निकोन की तरफ़ अनुमान साढ़े तीन सौ मील लम्बा और ईशान से नैऋत कोन को अढ़ाई सौ मील चौड़ा होवेगा विस्तार पचीस हजार मील मुरब्बा है हद उसकी उत्तर और पूर्व को चीन की अमलदारी और पश्चिम को अफ़गानिस्तान और दक्षिण को पंजाब के सर्कारी जिले और चम्बा और बिसहर के छोटे छोटे पहाड़ी रजवाड़ों से मिली है इनमें कश्मीर की दून पोथी और किताबों में बहुत प्रसिद्ध है और सच है उसकी जहाँ तक तारीफ़ कीजिये सब बजा है और दुनिया में जितनी प्रशंसा है कश्मीर के लिये सब रवा है। जहान के पर्दे पर कदाचित इस साथ का दूसरा स्थान हो तो हो सकता है पर इस बात का हम मुचलका लिख देते हैं कि उससे बिहतर कोई दूसरी जगह नहीं है क्योंकि हो ही नहीं सकती। मानो विधाता ने सृष्टि की सारी सुन्दर वस्तुओं का वहाँ नमूना इकट्ठा किया है। यह कश्मीर हिमालय के बीचोबीच में पड़ा है जैसे कोई बादामी थाली हो। इस तरह पर यह स्थान चौफेर हिमाच्छादित पर्वतों से घिरा रहा है और बीच में ७५ मील लंबा ४० मील चौड़ा सीधा मैदान वह्रादाल है। पहाड़ों समेत यह मैदान अनुमान ११० मील लंबा और ६० मील चौड़ा है। पुरानी पुस्तकों में लिखा है कि किसी समय में यह सारा इलाका पानी के तले डूबा हुआ था और उस झील को सतीसर कहते थे। लोहे तांबे और सुरमे की इस इलाके में खान हैं। दरख्त सायादार और मेवे के इस इफ़रात से हैं कि सारे इलाके को क्या पहाड़ और क्या मैदान एक बाग़ हमेशा बहार कहना चाहिये। कोई ऐसी जगह नहीं जो सब्जे और फूलों से खाली हो। सब्ज़ा कैसा मानों अभी इस पर मेह बरस गया है पर ज़मीन ऐसी सूखी कि उस पर बेशक बैठिये सोइये मजाल क्या जो कपड़े में कहीं दाग़ लग जावे। न काँटा है न कीड़ा मकोड़ा न साँप बिच्छू का वहां डर है न शेर हाथी के से मूज़ीजानवरों का घर। जहां बनफशा गाय भैंसों के चरने में आता है भला वहाँ के सब बाज़ारों का क्या कहना है मानों पथिक जनों के आराम के

लिये किसी ने सब्ज़ मख़मल का बिछौना बिछा रखा है और उनके बीच लाल पीले सफेद सैकड़ों किस्म के फूल इस रंग रूप से खिले रहते हैं कि जी नहीं चाहता जो उन पर से निगाह उठाकर किसी दूसरी तरफ़ डालें। कहीं नर्गिस और कहीं सोसन, कहीं लाला है और कहीं नस्तरन, गुलाब का जंगल चमेली का बन। मकान की छतें वहाँ तमाम मिट्टी की बनी हैं बहार के मौसिम में उन पर फूलों के बीज छिड़क देते हैं। जब जंगल में हर तरफ़ फूल खिलते हैं और मेवों के दरख्त कलियों से लद जाते हैं शहर और गाँव भी चमन के नमूने दिखलाते हैं। लोग दरख़्तों के नीचे सब्ज़ों पर जा बैठते हैं चाय और कबाब खाते हैं नाचते गाते हैं। एक आदमी दरख़्त पर चढ़कर धीरे धीरे उन्हें हिलाता है तो फूलों की बर्षा होती रहती है। इसी को वहाँ गुलरेज़ी का मेला कहते हैं। पानी भी वहाँ फूलों से ख़ाली नहीं कमल और कमोदनी इतने खिले हैं कि उनके रंगों की आभा से हर लहर इंद्रधनुष का समा दिखलाती है। भादों के महीने में जब मेवा पकता है तो सेब नाशपाती के लिए केवल तोड़ने की मिहनत दर्कार है दाम उनका कोई नहीं माँगता जंगल का जंगल पड़ा है और जो बागों में हिफ़ाजत के साथ पैदा होती हैं वह भी रुपये के तीन चार सौ से कम नहीं बिकतीं। नाशपाती कई क़िस्म की होती है। बटंक सब से बिहतर है। इसी तरह सेब भी बहुत प्रकार के होते हैं। बर्सात बिलकुल नहीं होती। पहाड़ इसके गिर्द इतने ऊँचे हैं कि बादल जो समुद्र से आते हैं उनके अधोभाग ही में लटकते रह जाते हैं पार होकर कश्मीर के अन्दर नहीं जा सकते। जाड़ों में दो तीन महीने बर्फ़ ख़ूब पड़ती है और सर्दी भी शिद्दत से होती है यहाँ तक की झीलों पर पाले के तख्ते जम जाते हैं और वहाँ के लोग कागड़ियों में जो जालीदार डब्बे की तरह मिट्टी की अँगेठियाँ होती हैं आग सुलगा कर गले में लटकाए रहते हैं जिसमें छाती गर्म रहे। बाक़ी नौ दस महीने बहार है न गर्मी न जाड़ा और धूल गर्द और लू और आंधी का तो क्यों होना था वहाँ गुज़ारा। मई और जून में दो चार छींटें मेह के भी पड़ जाते हैं। झेलम अथवा वितस्ता इस इलाके के पूर्व से निकल कर पश्चिम को इस मज़े से बहती चली गई है कि मानो ईश्वर ने जैसी

वह भूमि थी वैसी ही उसके लिये यह नदी रची न बहुत चौड़ी न सँकड़ी जल गहरा मीठा ठंढा और निर्मल न उसमें ऐसा तोड़ कि नाँव को खतरा हो न ऐसा बँधा हुआ जिसमें कि गंदा हो जावे न यह दर्या कभी बहुत बढ़ता है न घटता कनारे भी न बहुत-ऊँचे हैं न बहुत नीचे कहीं हाथ कहीं दो हाथ परन्तु बालू का नाम नहीं। पानी के लब तक फूल खिले हुए हैं और दरख्त साया-दार और मेवादार दुतरफ़ा इतने खड़े हैं और उनकी टहनियाँ इतनी दूर तक पानी पर झुकी हुई हैं कि नाव पर बैठ कर आराम से छाया में चले जाओ और बैठे ही बैठे मेवे तोड़ो और खाओ। कहीं बेदमजनू पानी में झुके हैं कहीं चनार जो बहुत बड़े दरख्त और जिनकी छांव बहुत घनी और ठंढी होती है पन्ने का चतर सा बांधे खड़े हैं। कहीं सफेदे के दरख्त जो सर्व की तरह सीधे और उससे भी अधिक ऊँचे और सुन्दर होते हैं कतार की कतार जमे हैं और कहीं उनके बीच में गाँव और कसबे बसते हैं। दर्या के बाढ़ की दहशत न रहने से वहाँ वाले अपने मकानों की दीवारें ठीक पानी के किनारे से उठाते हैं जिसमें नाव उनके दर्वाज़ों पर जा लगे। नाव की सवारी यहाँ बहुत है और उसी से सारे काम निकलते हैं। सब मिलाकर इस इलाके में अनुमान दो हज़ार नाव चलती होंगी पर नाव भी कैसी सबुक हलकी साफ़ खूबसूरत हवादार नाम उनका परंदा यथानामस्तथागुणः। बैरीनाग अर्थात् जिस जगह से यह नदी निकली है वह भी दर्शनीय है। एक पहाड़ की जड़ में मेवों के जंगल के दर्मियान एक अष्टकोन पचीस फ़ुट गहरा कुंड है घेरा उसका अनुमान अढ़ाई सौ हाथ होगा पानी ठंढा और निर्मल मछलियाँ बहुत, गिर्द, इमारत बादशाही बनी हुई निदान इस कुंड में पानी उबलता है और उससे जो नहर बहती है वही आगे जाकर और दूसरे सोतों से मिल कर वितस्ता हो गई है। दो चार ब्राह्मण उस जगह पर रहा करते हैं क्योंकि हिन्दुओं का तीर्थ है। स्थान बहुत एकान्त रम्य और मनोहर है। सिवाय इनके उस इलाके में और भी बहुतेरे कुंड और सोते हैं जिनसे नदी और नहरें इस इफरात से बहती हैं कि सारी खेतियाँ जो बहुधा धान की होती हैं उन्हीं के पानी से सिंचती हैं। छोटे कुंड को वहाँ नाग और बड़ों को डल

कहते हैं। तीर्थ भी हिन्दुओं के वहाँ कई एक हैं पर सब से प्रसिद्ध श्रीनगर के आठ मंजिल उत्तर दिशा को बर्फ के पहाड़ों में ज्योतिलिंग अमरनाथ महादेव के दर्शन हैं। बरस भर में एक दिन श्रावण की पूर्णिमा को उनका दर्शन होता है। बड़ा मेला लगता है। रास्ता बहुत बिकट है। अंत में सात आठ कोस बर्फ पर चलना पड़ता है। कपड़ा पहनकर वहाँ कोई नहीं जाने पाता। एक मंजिल पहले से नंगे हो जाते हैं अथवा भोजपत्र की लंगोटी बाँध लेते हैं। मंदिर मूर्ति वहाँ कुछ नहीं है। एक गुफा सी है उसमें पहाड़ बर्फ ढलकर सी बन जाती है उसी को महादेव का लिंग मानकर पूजा करते हैं। उस गुफा के अन्दर कबूतर भी रहते हैं जब यात्रियों का शोर गुल सुनते हैं तो घबड़ाकर बाहर निकल जाते हैं कि साक्षात् महादेव पार्वती कबूतर बनकर उनको दर्शन देते हैं। श्रीनगर के अग्निकोन को एक दिन की राह पर मटन साहिब नाम एक कुंड हिन्दुओं का तीर्थ है। उसके गिर्द इमारतें बनी हैं। तवारीखों से मालूम हुआ कि किसी समय में वहाँ सूर्य का एक बहुत बड़ा मन्दिर था और असली नाम उस स्थान का मार्तंड है। खंडहर उस मंदिर का अबतक भी खड़ा है। वहाँ वाले उसको कौरवपांडव कहते हैं। स्थान देखने योग्य है। पास ही एक बहुत पुराना गहरा कूआ है। मुसलमान उसको हारूत और मारूत का कैदखाना कहते हैं। और चाह बाबिल के नाम से पुकारते हैं। कश्मीरियों के निश्चय अनुसार मटन साहिब में श्राद्ध करने से गया बराबर पुण्य होता है। इस इलाके के दर्मियान अकसर जगह पुराने समय की इमारतें मुसलमानों की तोड़ी हुई दिखलाई देती हैं। वहाँ वाले उन्हें पांडवों की बनाई हुई बतलाते हैं पर बहुधा उनमें से बौद्ध राजाओं की हैं। श्रीनगर के वायु कोन अनुमान तीन दिन की राह पर रुसलू के गाँव में एक कुंड है, जब पहाड़ों पर बर्फ गलती है तो ज़मीन के नीचे ही नीचे उस कुंड में इस ज़ोर से पानी की बाढ़ आती है कि भँवर सा पड़ जाता है और जो कुछ लकड़ी पात उसकी थाह में रहता है सब पानी पर तरने और घूमने लगता है : नादान ख्याल करते हैं कि पानी में देवता उतरा। श्रीनगर से चालीस मील वायुकोन पश्चिम को झुकता निच्छीहमा गाँव के पास एक ज़मीन का

टुकड़ा है कि वह सदा गर्म और जलता रहता है। वहाँ वाले उस ज़मीन को सुहोयम पुकारते हैं। मालूम होता है कि उस ज़मीन के नीचे गंधक हरताल इत्यादि से किसी चीज़ की खान है। लोग यहाँ के परम सुन्दर लेकिन दग़ाबाज़ और झूठे परले सिरे के लड़ाकू भी बड़े होते हैं विशेष करके स्त्रियें भटियारियों से भी अधिक लड़ती हैं पैर में सूत बाँध बाँधकर और हाथ में मूसल ले लेकर झगड़ती हैं बस्ती वहाँ मुसलमानों की है हिन्दू जितने हैं सब के सब भ्रष्ट मुसलमानों की पकाई रोटी खाने में कुछ भी दोष नहीं समझते थे कश्मीरी दूसरे मुल्कों में आकर पंडित और ब्राह्मण बन जाते है और वहाँ मुसलमानों के साथ खाना खाते हैं। कारीगर यहाँ के प्रसिद्ध हैं और शालबाफ़ तो यहाँ के से कहीं नहीं होते। शाल पर यहाँ की आबहवा का भी बड़ा असर है क्योंकि यही कारीगर यदि इस इलाके से बाहर जाकर बुनें कदापि वैसी शाल उनसे नहीं बुनी जावेगी पर इन शालबाफों को वहाँ दो चार आने रोज़ से अधिक हाथ नहीं लगता। महसूल बड़ा है। जितने रुपये का माल तयार होता है उतना ही उस पर शालबाफों से महाराज महसूल लेते हैं। अब वहाँ सब मिलाकर चार-पाँच हज़ार दूकानें शालबाफ़ों की होवेंगी। हमिल्टन साहब के लिखने बमूजिब एक ज़माने में सोलह हज़ार गिनी जाती थीं। पश्मीना जिससे शाल बुने जाते हैं काश्मीर में नहीं होता तिब्बत से आता है। वे छोटी-छोटी लम्बे बालों वाली बकरियाँ जिनके बदन पर पश्मीना होता है सिवाय तिब्बत के दूसरी जगह नहीं जीतीं। केसर वहाँ साल भर में सत्तर अस्सी मन पैदा होती है। श्रीनगर कश्मीर की राजधानी है। यह शहर ३३ अंश २३ कला उत्तर अक्षांश और ७४ अंश ४७ कला पूर्व देशान्तर में समुद्र से ५,५०० फ़ुट ऊँचा बितस्ता के दोनों कनारों पर चार मील लम्बा बसा है और शहर के बीच में से यह नदी इस तरह पर निकली है कि लोग अपने मकान की खिड़की और बरामदों में बैठे हुए उससे पानी खींच लेते हैं। यहाँ इस नदी का पाट डेढ़ सौ गज़ से अधिक है। एक कनारे से दूसरे कनारे जाने के लिए सात पुल काठ के बने हैं। जब किसी को किसी के यहाँ जाना होता है बेतकल्लुफ़ कश्ती पर बैठकर चला जाता है। दूसरी सवारी की इहतियाज नहीं पड़ती। गलियाँ

तंग और ग़लीज़ हम्माम बहुत नहाने के लिये दर्या कनारे पानी पर काठ के सन्दूक़ से बने हैं कि जब चाहो एक जगह से दूसरी जगह खोलकर ले जाओ। जिसको दर्या में नहाना होता है वह उन्हीं के अन्दर पर्दे के साथ नहा लेता है। इमारत ईंट और काठ की खिड़कियों में जालियाँ चोबी बहुत अच्छी बनी हुई और उनके अन्दर बर्फ के दिनों में ठंढी हवा रोकने के लिए बारीक काग़ज़ लगा देते हैं। शीशा नहीं मिलता। शहर के उत्तर कनारे पर अढ़ाई सौ फ़ुट ऊँचा हरी पर्वत नाम का एक छोटा सा पहाड़ है। उस पर एक छोटा सा किला बना है। ऊपर चढ़ने से शहर और पुल दोनों की सैर बखूबी दिखलाई देती है। हाकिम के रहने के मकान शहर दक्षिण तरफ़ वितस्ता के कनारे किले के तौर पर बुर्ज देकर बने हैं। उसे शेरगढ़ी कहते हैं। बादशाही मकानों का अब कहीं पता भी नहीं लगता। जहाँ दौलतसरा अर्थात् जहाँगीर के महलों का निशान देते हैं वहाँ अब धान की खेतियाँ होती हैं। एक दर्वाज़े के पत्थर पर जो बाकी रह गया है फारसी शैर खुदे हैं। उनके पढ़ने से मालूम होता है कि किसी समय में वहाँ नागरनगर नाम का किला बनाया गया था और उसके खर्च के लिये सिवाय कश्मीर की आमदनी के जो बिलकुल उसी में बन चुकने तक लगा की, एक करोड़ दस लाख रुपया बादशाह ने अपने खजाने से भेजा। नसीम नशात और शालामार यह तीनों बाग़ उस वक्त के जो अब तक डल के किनारे मौजूद हैं उनमें से नसीम में तो जहाँ बादशाह घोड़ा फेरते थे केवल हज़ार अथवा बारह सौ दरख्त बड़े बड़े चनारों के खड़े हैं और नशात और शालामार ये दोनों बाग़ ऊजड़ पड़े हैं। फ़व्वारे टूटे हुए मकान गिरे हुए हौज़ों में पानी की जगह सूखी काई जमी हुई क्यारियों में फूल के बदले खेती बोई हुई, यह हाल है उन बाग़ों का जिनमें जहाँगीर नूरजहाँ के गले में हाथ डालकर दोनों जहान से बेख़बर फिरा करता था और जिनको पृथ्वी पर स्वर्ग का नमूना बतलाते थे। सारे जहान की ख़ूबियों का खुलासा कश्मीर और कश्मीर की ख़ूबियों का खुलासा डल है। यह झील निर्मल जल की जो निहायत गहरी है प्राय दस मील के घेरे में होवेगी। दो तरफ उसके पहाड़ है लेकिन पाँच पाँच सात सात के तफ़ावत से और दो

तरफ़ श्री नगर का शहर बसा है। नालों के वसीले से वह वितस्ता से मिली हुई है। कनारों पर बाग़ हैं। बीच बीच में टापू उनमें अंगूर बेदमजनू इत्यादि सुन्दर पेड़ों के अन्दर लोगों के मकान तख्तों पर खीरे ख़बुंज़ों की खेतियाँ मुर्ग़ाबियाँ कलोलें करती हुई कहीं नाव कमलों के बीच से होकर निकलती है और कहीं अंगूर बेदमजनू की कुञ्जों के नीचे ही नीचे चली जाती है। जुमे के रोज़ क्या ग़रीब और क्या अमीर नाव में बैठकर सैर के लिए डल में जाते हैं। इन्हीं टापुओं में चाय रोटी खाते हैं। नाच गाने का भी शग़ल रखते हैं। यह कैफ़ियत देखने की है लिखने की कदापि लेखनी को सामर्थ्य नहीं। अगले लोग जो कश्मीर की तारीफ़ में यह बात लिख गये हैं कि बूढ़ा भी वहाँ जाने से जवान हो जाता है सो इतना तो वहाँ अवश्य देखने में आया कि मन उसका जवानों का सा हो जाता है। जैसे रेगिस्तान में जेठ बैसाख के भुनसे हुए मनुष्य को यदि कहीं वसंत ऋतु की हवा लग जावे तो देखो उसका मन कैसा बदल जावेगा और तिसमें कश्मीर की हवा के आगे तो और जगह का वसंत ऋतु भी नर्क ऋतु है। जो लोग निर्जन एकान्त रम्य और सुहावने स्थान चाहते हैं उनके लिये कश्मीर से बढ़कर दूसरी जगह कोई भी नहीं है।

शकुन्तला नाटक

[लेखक—राजा लक्ष्मणसिंह)

अंक ५

स्थान—राज भवन

(राजा आसन पर बैठा है, माढव्य पास खड़ा है)

माढव्य—(कान लगा कर) मित्र, संगीतशाला की ओर कान लगाओ, देखो कैसा मधुर अलाप सुनाई देता है। मेरे जाने तो रानी हंसपदिका गाने का अभ्यास कर रही है।

दुष्यन्त—अरे चुप रह सुनने दे। [नेपथ्य में राग होता है]

कालगड़ा—इकताला

भ्रमर तुम मधु के चाखनहार ।
आम की रसभरी मृदुल मंजरी तासों प्रीति अपार ॥
रहसि रहसि नित रस लैबे को धावत है करि नेम ।
क्यों कल आई कमल बसेरे कित भूले प्यारी के प्रेम ॥१६२॥

दुष्यन्त—अहा ! कैसा प्रीत उपजाने वाला गीत है ।

माढव्य—तुमने इन पदों का अर्थ भी समझा ।

दुष्यन्त—(मुसका कर) हाँ समझा, पहले मैं रानी हंसपदिका पै असक्त था, अब वसुमती में मेरा स्नेह है इसलिए मुझे उलाहना देती है । मित्र माढव्य, तू जा हमारी ओर से रानी हंसपदिका से कह दे, कि हे रानी, हम इसी उलाहने के योग्य हैं ।

माढव्य—जो आज्ञा महाराज की, (उठता है) हे मित्र, जैसे अप्सरा के हाथ से तपस्वी का छुटकारा नहीं होता, आज मेरा भी न बनेगा, वह रानी चोटी पकड़वा कर मुझे पराए हाथों पिटवाएगी ।

दुष्यन्त—जा, चतुराई की रीति से उसे समझा देना ।

माढव्य—जाने क्या गति होगी । [जाता है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) यद्यपि मुझे किसी स्नेही का वियोग नहीं है तो भी गीत के सुनते ही चित्त को आप से आप उदासी हो आई है । इसका क्या हेतु है यह हो तो हो कि—

दोहा—लखि के सुन्दर वस्तु अरु, मधुर गीत सुनि कोइ ।
सुखिया जनहू के हिये, उत्कंठा यदि होइ ॥१६३॥
कारन ताको जानिये, सुधि प्रगटी है आय ।
जन्मान्तर के सखन की, जो मन रही समाय ॥१६४॥

[व्याकुल सा होकर बैठता है]

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—अहा ! अब मैं किस दशा को पहुँचा हूँ—

रीति जानि अपनी पदवी की, परम्परा माना सब ही की।
लकुट लई मैंने जो आगे, राज गेह रचा हित लागे ॥१६५॥
तब तें काल जु बहुत बितायो, आय बुढ़ापो मो तन छायो।
डिगमिगात पग चलत दुलारो, यही लकुटि अब देति सहारो ॥१६६॥
यह तो सच है कि राजा को धर्मकाज करने ही पड़ते हैं परन्तु महाराज धर्म्मासन से उठकर अभी गए हैं इस लिए उचित नहीं है, कि मैं उनसे इसी समय कहूँ कि कण्व ऋषि के चेले आए हैं, क्योंकि इस संदेशे से स्वामी के विश्राम में विघ्न पड़ेगा। नहीं नहीं जिनके सिर प्रजापालन का बोझ है उनको विश्राम कैसा—

दोहा—जोरि तुरँग रथ एकदाँ, रवि न लेत विश्राम।
तैसे ही नित पवन कों, चलिबे ही तें काम ॥१६७॥
भूमिभार सिर पै सदा; धरत शेष हू नाग।
यही रीति राजान की, लेत छठो छो भाग ॥१६८॥

तो अब मैं इस संदेश को भुगता ही दूं (इधर उधर देख कर) महाराज वे बैठे हैं।

दोहा—पालि प्रजा सन्तान सम, थकित चित्त जब होइ।
ढूँढ़त ठांव इकन्त नृप, जहाँ न आवै कोइ ॥१६९॥
सब हाथिन गजराज ज्यों, लैके बन के माँह।
घाम लग्यो खोजत फिरत, दिन में शीतल छाँह ॥१७०॥

[पास जाकर]

महाराज की जय हो! हे स्वामी, हिमालय की तराई के बनवासी तपस्वी स्त्रियों सहित कण्व मुनि का संदेशा लेकर आए हैं, उनके लिए क्या आज्ञा है?

दुष्यन्त—(आदर से) क्या कण्व मुनि का संदेशा लाए हैं!

कंचुकी—हाँ प्रभु

दुष्यन्त—तो सोमरात पुरोहित से कह दे कि इन आश्रम वासियों की वेद की विधि से सत्कार करके अपने साथ लावें, मैं भी तब तक तपस्वियों

से भेटने योग्य स्थान में बैठता हूँ।

कंचुकी—जो आज्ञा।

[बाहर जाता है]

दुष्यन्त—(उठ कर) हे प्रतीहारी, अग्निस्थान की गैल बता।

प्रतीहारी—महाराज यह गैल है।

दुष्यन्त—(इधर उधर फिर कर अधिकार के बोझ का दुःख दिखाता हुआ) अपना अपना मनोरथ पाकर सब प्रसन्न हो जाते हैं परन्तु राजा की कृतार्थता निरी क्लेश भरी होती है।

दोहा—हाथ मनोरथ के लगे, अभिलाषा मरि जाति।
हाथ लगे कौ राखिबौ, करत खेद दिन राति ॥१७१॥
नृपताहू य जानिये, ज्यों छत्री कर माहिं।
देति कष्ट पहले इतो, जेतो मेटति नाहिं ॥१७२॥

(नेपथ्य में)

दो ढाढ़ी—महाराज की जय रहे!

पहला ढाढ़ी—

कडखा—निज कारण दुख ना सहो, सहो पराए काज।
राजकुलन व्यवहार यह, सो पालहु महराज ॥
अपने शिर पै लेत हैं, वर्षा शीतरु घाम।
जिमि तरवर दिनपथिक के, निज तर दै बिश्राम ॥१७३॥

दूसरा—

छप्पय—दुष्ट जनन बश करन लेत जब दंद प्रचंडहि।
देत दंड उन नरन चलत मर्य्याद जो छंडहि ॥
करत प्रजा प्रतिपाल कलह के मूल विनाशहि।
जिहि निमित्त नृपजन्म धर्म्म सब करत प्रकाशहि ॥
महाराज दुष्यन्त जू, चिरजीवो नित नवल वय।
मेटि बिघ्न उत्पात सब, परजहि करि राखो अभय ॥१७४॥

दोहा—धन वैभव तौ और हू, बहुत छत्रियन माहिं।
पै सुप्रजा हित तुमहिं में, अधिक भेद कछु नाहिं ॥१७५॥
सोरठा—राखत बन्धु समान, याही ते तुम सबन को।
करत मान सन्मान, दुःख न काहू देत हो ॥१७६॥
दुष्यन्त—इन्होंने तो मेरे मलीन मन को फिर हरा कर दिया।

[इधर उधर फिरता है]

प्रतीहारी—महाराज, अग्निशाला की छत लिपी पुती स्वच्छ पड़ी है और निकट ही होम धेनु बँधी है वहीं चलिये।
दुष्यन्त—(सेवकों के कन्धों पर सहारा लेता हुआ छत पर चढ़ कर बैठता है)
हे प्रतीहारी, कण्व मुनि ने किस निमित्त हमारे पास ऋषि भेजे हैं।
तपसीन के कारज माँहिं किधौं, अब आय बड़ो कोइ बिघ्न पर्‌यो।
बनचारी किधौं पशु पच्छिन में, काहु दुष्ट नयो उतपात कर्‌यो ॥
फल फूलिबो बेलि लता बनकौ, मति मेरे ही कर्म्मन तें बिगर्‌यो।
इतने मोहिं घेरि सँदेह रहे इन धीरज मेरे हिये को हर्‌यो ॥१७७॥
प्रतीहारी—मेरे जान तौ ये तपस्वी महाराज के सुकर्मों से प्रसन्न होकर धन्यवाद देने आये हैं।

[शकुन्तला को साथ लिये हुए गौतमी सहित मुनि आते हैं और कंचुकी और पुरोहित उन से आगे हैं]

द्वारपाल—इधर आओ, महात्माओ इस मार्ग आओ।
शारंगरव—हे शारद्वत—
यदपि भूप यह है बड़ भागी, थिर मर्याद धर्म्म अनुरागी।
जासु प्रजा में नीचहु कोई, कुमत कुमारग लीन न होई ॥१७८॥
पै मैं तौ नित रह्यो अकेलो, यातें नाहिं सुहात सहेलो।
मनुष भरो मोहि यह नृप-द्वारा, दीखत जिमि घर जरत अँगारा ॥१७९॥
शारद्वत—सत्य है जब से नगर में धसे हैं यही दशा मेरी भी हो गई है—
दोहा—इन सुख लोभी जनन मैं, देखत हूँ या भाय।
न्हायो धोयो लखतु ज्यों, मैले को दुख पाय ॥१८०॥

अथवा शुद्ध अशुद्ध कों, सोवत कों जागंत ।
बँधुआ कों जैसे लखत, कोई मनुष सुतंत ॥१८१॥

शकुन्तला—(सगुन देख कर) हाय ! मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कती है ?

गौतमी—दैव कुशल करेगा, तेरे भरता के कुलदेव अमंगलों को मेटि तुझे सुख देंगे ।

पुरोहित—(राजा को बतलाकर) हे तपस्विनी, वर्णाश्रम के प्रतिपाल श्री महाराज आसन से उठकर तुम्हारी बाट हेरते हैं इनकी ओर देखो ।

शारंगरव—हे ब्राह्मण यह तौ बड़ी बड़ाई की बात है, परन्तु हम से पूछो तो यह इनका धर्म ही है—

दोहा—फल आए तरवर झुके, झुकत मेघ जल लाय ।
बिभौ पाय सज्जन झुके, यह परकाजि सुभाय ॥१८२॥

प्रतीहारी—महाराज, ये ऋषि लोग प्रसन्न मुख दीखते हैं इससे मैं जानती हूँ कि कोई कष्ट का काम नहीं लाए ।

दुष्यन्त—(शकुन्तला की ओर देख कर) तो यह भगवती कौन है ?

दोहा—घूंघट पट की ओट दै, को ठाड़ी यह बाल ।
पूरो दीठ परै नहीं जाको रूप रसाल ॥१८३॥
यह तपसिन के बीच में, ऐसी परति लखाय ।
लई मनों कोपल नई, पीरे पातन छाय ॥१८४॥

प्रतीहारी—महाराज, इसका वृत्तान्त जानने को तौ मेरा जी भी बहुत चाहता है, परन्तु मेरी बुद्धि काम नहीं करती । हाँ, इतना तो कहूँगी कि इस भगवती का रूप दर्शन योग्य है ।

दुष्यन्त—रहने दे, पराई स्त्री को देखना अच्छा नहीं ।

शकुन्तला—(आप ही आप अपने हृदय पर हाथ रख कर) हे हृदय ! तू ऐसा क्यों डरता है, आर्यपुत्र के प्रेम की सुध करके धीरज धर ।

पुरोहित (आगे जाकर) महाराज, इन तपस्वियों का आदर सत्कार

विधि-पूर्वक हो चुका, अब ये अपने गुरु का कुछ संदेशा लाए हैं सो सुन लीजिये।

दुष्यन्त (आदर से) सुनता हूँ कहने दो।

दोनों ऋषि—(हाथ उठाकर) महाराज की जय रहे!

दुष्यन्त—तुम सब को मैं प्रणाम करता हूँ।

दोनों ऋषि—आप के मनोर्थ सिद्ध हों!

दुष्यन्त—मुनियों का तप तौ निरविघ्न होता है?

शारंगरव—

दोहा—जब लग रखवारे बने, तुम जग में महराज।
क्यों बिगरेंगे मुनिन के, धर्म्म परायण काज॥१८५॥
ज्योति दिवाकर की रहै, जौलों मंडल छाय।
अन्धकार नहिं ह्वै सकै, प्रगट भूमि पै आय।

दुष्यन्त—तौ अब मेरा राजा शब्द यथार्थ हुआ। कहो लोकहितकारी कण्व मुनि प्रसन्न हैं?

शारंगरव—महाराज कुशल तौ तपस्वियों के सदा आधीन ही रहती है। गुरू जी ने आपका अनामय पूछ कर यह कहा है।

दुष्यन्त—क्या आज्ञा की है?

शारंगरव—कि तुमने मेरी इस कन्या को गान्धर्व रीति से व्याह लिया, सो व्याह मैंने प्रसन्नता से अंगीकार किया, क्योंकि—

दोहा—तुम्हें मुख्य सज्जनन में, हम जानत हैं भूप।
शकुन्तला हू है निरी, सतक्रिया को रूप॥१८७॥
ऐसे समगुण वरबधू विधि ने दुहू मिलाय।
बहुत दिनन पाछें लियो, अपनो दोष मिटाय॥१८८॥

अब इस गर्भवती को धर्म्माचरण निमित्त लीजिये।

गौतमी—हे राजा, मैं भी कुछ कहा चाहती हूँ, परन्तु कहने का अवकाश अभी नहीं मिला—

सोरठा—पूछे याने नहिं गुरुजन तुमहु न बन्धुजन।

या कारज के माहिं, करो परस्पर बात अब ॥१८६॥

शकुन्तला—(आप ही आप) देखूँ अब आर्य्यपुत्र क्या कहते हैं।

दुष्यन्त—यह क्या स्वांग है ?

शकुन्तला—(आप ही आप) हे दई ! राजा का यह बचन तौ निरा अग्नि ही है ।

शारंगरव—हैं यह क्या ! हे राजा तुम तौ लोकाचार की बातें जानते हो।

दोहा—जाय सुहागिनी बसति जो अपने पीहर धाम ।
लोग बुरी शंका करें, यदपि सतीहू बाम ॥१९०॥
यातें चाहत बन्धुजन, रहे सदा प्रतिगेह ।
प्रमदा नारि सुलच्छनी, बिनहु पिया के नेह ॥१९१॥

दुष्यन्त—क्या मेरा इस भगवती से कभी ब्याह हुआ था ?

शकुन्तला—(उदास होकर आप ही आप) अरे मन ! जो तुझे डर था, सोई आगे आया ।

शारंगरव—क्या अपने किये में अरुचि होने से धर्म्म छोड़ना राजा को योग्य है ?

दुष्यन्त—यह झूठी कल्पना का प्रश्न क्यों करते हो ?

शारंगरव—(क्रोध से) जिनको ऐश्वर्य्य का मद होता है उनका चित्त स्थिर नहीं रहता ।

दुष्यन्त—यह कठोर बचन तुमने मेरे ही लिये कहा ।

गौतमी—(शकुन्तला से) हे पुत्री, अब थोड़ी बेर को लाज छोड़ दे, ला मैं तेरा घूंघट खोल दूँ जिससे तेरा भर्त्ता तुझे पहचान ले ।

[घूंघट खोलती है]

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देख कर आप ही आप)—

दोहा—बरी कि कबहू ना बरी, परी हिये उरझेट ।
ठाढ़ी रूप ललाम लै, सनमुख मेरे भेट ॥१९२॥
सकत न याको लैन सुख, नहिं मैं त्यागि सकात ।
ओस भरे सद कुन्द कों, जैसे मधुकर प्रात ॥१९३॥

[सोचता हुआ बैठा है]

प्रतीहारी—(दुष्यन्त से) महाराज तो अपने धर्म्म में सावधान हैं, नहीं तो सन्मुख आए ऐसे स्त्री रत्न को देख कौन सोच विचार करता है।

शारंगरव—हे राजा, ऐसे चुपके क्यों हो रहे हो।

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! मैं बारम्बार सुध करता हूँ परन्तु स्मरण नहीं होता कि इस भगवती से कभी मेरा विवाह हुआ, और जब इस गर्भवती के लेने से मुझे क्षेत्री[1] कहलाने का डर है तो क्योंकर इसे स्वीकार कर सकता हूँ

शकुन्तला—(आप ही आप) हे दैव ! जो मेरे संग ब्याह ही में सन्देह है; तो मेरी बहुत दिन की लगी आशा टूटी।

शारंगरव—ऐसा मत कहो—

जासु सुता नृप तैं छलि लीनी, यह अनीति जा के संग कीनी।
जाने तदपि बुरो नहिं मान्यो, ब्याह तुम्हारो शुद्ध प्रमान्यो ॥१६४॥
चुरी वस्तु दैके जिमि कोई, चोरहि साह बनावत होई।
सो न जोग अपमान मुनीशा, देखु विचारि तुही छिति ईशा ॥१६५॥

शारद्वत—शारंगरव, अब तुम ठहरो। हे शकुन्तला, हमको जो कुछ कहना था कह चुके और उत्तर भी सुन लिया अब तू कुछ कह जिससे इसे प्रतीति हो।

शकुन्तला—(आप ही आप) जो वह स्नेह ही न रहा तो अब सुध दिखाने से क्या प्रयोजन। अब तो मुझे लोक के अपवाद से क्या बचने की चिन्ता है। (प्रगट) हे आर्य पुत्र। (आधा कह कर रुक जाती है) और जो ब्याह ही से सन्देह है तो यह शब्द अनुचित है। हे पुरुवंशी, तुम को योग्य नहीं है कि आगे तपोवन में मुझ सीधे स्वभाव वाली को प्रतिज्ञाओं से फुसला कर अब ऐसे निठुर बचन कहते हो।

---

[1] जिस मनुष्य की स्त्री दूसरे पुरुष से गर्भवती हो वह क्षेत्री कहलाता है।

दुष्यन्त—(कान पर हाथ रख कर)—पाप से भगवान् बचावे।

दोहा—क्यों चाहित तू पदमिनी, करन पातकी मोहिं।
अरु दूषित मम वंश को मैं पूछत हौं तोहिं ॥१९६॥
सरिता निज तट तोरि जो, रूखन लेति खसाय।
नीर बिगारति आपनो शोभा देति नसाय ॥१९७॥

शकुन्तला—जो तुम भूल कर सत्य ही मुझे परनारी समझते हो तो लो पते के लिये तुम्हारे ही हाथ की मुँदरी देती हूँ जिससे तुम्हारी शंका मिट जायगी।

दुष्यन्त—अच्छी बात बनाई।

शकुन्तला—(अंगुली देखकर) हाय हाय मुँदरी कहाँ गई!

[बड़ी व्याकुलता से गौतमी की ओर देखती है]

गौतमी—जब तैने शुक्रावतार के नकट सची तीर्थ में जल आचमन किया था तब मुँदरी गिर गई होगी।

दुष्यन्त—(मुसकाकर) स्त्री की तत्काल बुद्धि यही कहलाती है।

शकुन्तला—यह तो विधाता ने अपना बल दिखाया परन्तु अभी एक पता और भी दूँगी।

दुष्यन्त—सो भी कह दे मैं सुनूगा।

शकुन्तला—उस दिन की सुध है जब माधवी कुञ्ज में तुमने कमल के पत्ते में जल अपने हाथ से लिया था।

दुष्यन्त—तब क्या हुआ?

दुष्यन्त—तब क्या हुआ?

शकुन्तला—उसी छिन मेरा पाला हुआ दीर्घापांग नाम मृगछौना आ गया तुमने उसे बड़े प्यार से कहा "आ छौने पहले तुही पी ले"। उसने तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया। फिर उसी पत्ते में मैंने पिलाया तो पी लिया। तब तुमने हँस कर कहा था कि सब कोई अपने ही सहवासी को पत्याता है तुम एक बन के बासी हो।

दुष्यन्त—अपना प्रयोजन साधन वालियों की ऐसी मीठी झूठी बातों से तो कामीजनों के मन डिगते हैं।

गौतमी—बस राजा ऐसे वचन मत कहो। यह कन्या तपोवन में पली है छल-छिद्र क्या जाने।

दुष्यन्त—हे वृद्ध तपस्विनी सुनो—

दोहा—बिना सिखाई चतुरई, तिरियन की विख्यात।
पशु पछिन हूँ में लखी, मनुषन की कह बात ॥१९८॥
लेति पखेरू आन तें, कोइलिया पलवाय।
तब लग अपने चेंटुअन, जब लग उड्यो न जाय ॥१९९॥

शकुन्तला—(क्रोध करके) हे अनारी, तू अपना सा कुटिल हृदय सब का जानता है। तुझ सा छलिया कौन होगा जो घास फूस से ढके हुए कुएँ की भाँति धर्म का भेष रखता है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसका कोप बनावट सा नहीं दीखता और इसी से मेरे मन में संदेह उपजता है क्योंकि—

दोहा—बिन सुधि आए विथित चित, मैं जु कह्यो बहु बार।
मेरो तेरो ना भयो, कहुँ इकन्त में प्यार ॥२००॥
तब अति राते हगन पै, लीनी भौंह चढ़ाय।
तोर्‌यो चाप मनोज की, मनहु कोप मं आय ॥२०१॥

पुरोहित—हे भगवती, दुष्यन्त के सब काम प्रसिद्ध हैं परन्तु यह हमने कभी नहीं सुना कि तेरा व्याह इनके साथ हुआ।

शकुन्तला—"मुँह में खाँड पेट में विष"—ऐसे इस पुरुवंशी के फंदे में फँस कर अब मैं निर्लज्ज कहलाई, सो ठीक है।

[मुख पर अंचल डाल कर रोती है]

शारंगरव—जो काम बिना विचारे किया जाय इसी भाँति दुख देता है। इसी से कहा है कि—

दोहा—बिन परखे करिये नहीं, कहुँ इकन्त सम्बन्ध।
ऐसे कारज के विषय, निरे न बनिये अन्ध ॥२०२॥

अनजाने मन के मरम, जुरति कहूँ जो प्रीति।
पलटि बैर बन जाति फिर, पाछे याही रीति ॥२०३॥

दुष्यन्त—क्या तुम इसी की बातों को प्रतीत करके मुझे इतने दोष लगाते हो।

शारंगरव—(अवज्ञा करके) क्या तुमने यह उलटा वेद नहीं सुना—

दोहा—जन्महि तें जाने नहीं, जानी छल की रीति।
ताके बचनन की कछू, करिये नहीं प्रतीति ॥२२४॥
मानि लीजिये उनहि को, सतबादी विद्वान।
विद्या लों सीख्यों भलो, जिन पर वञ्चन ज्ञान ॥२०५॥

दुष्यन्त—हे सत्यवादी, भला यह भी माना कि हमने दूसरों को छलना विद्या की भाँति सीखा है परन्तु कहो तो इस भगवती के छलने से मुझे क्या मिलेगा!

शारंगरव—भारी विपत्ति।

दुष्यन्त—नहीं नहीं, यह बात प्रतीत न की जायगी कि पुरुवंशी अपने वा पराये के लिये विपत्ति माँगते हैं।

शारद्वत—हे शारंगरव, इस बात से क्या अर्थ निकलेगा हम तो गुरू का सँदेशा लाए थे सो भुगता चुके अब चलो।

[राजा की ओर देखकर]

दोहा—यह है तेरी नारि नृप, तू याको भरतार।
राखन छोड़न को सबै, तोही को अधिकार ॥२०६॥
आओ गौतमी आगे चलो।

[दोनों मिश्र और गौतमी जाते हैं]

शकुन्तला—हाय इस छलिया ने तो त्यागी, अब क्या तुम भी मुझ दुखिया को छोड़ जाओगे।

[उनके पीछे पीछे चलती है]

गौतमी—(खड़ी होकर) बेटा शारंगरव, शकुन्तला तो यह पीछे पीछे रोती आती है! अभागी को निरमोही पति ने छोड़ दिया, अब क्या करें!

शारंगरव—(क्रोध करके शकुन्तला से) हे कर्महीन! तू क्या स्वतंत्र हुआ चाहती है!
[शकुन्तला थरथराती है]

है जो शकुन्तला तू ऐसी, नरपति तोहि बतावत जैसी!
तौ जग में तू पतित कहावे, पिता गेह आवन क्यों पावे ॥२०७॥
अरु जो जानति है मन माहीं, दोष कियो मैंने कछु नाहीं।
तौ यहि रहति लगे तू नीकी, दासी हूँ बनिके निज पी की ॥२०८॥

दुष्यन्त—हे तपस्वियो, क्यों इसे धोखा देते हो, देखो—

दोहा—चन्द जगावतु कुमुदनी, पद्मिनि हौ दिन नाथ।
जती पुरुष कहुँ ना गहैं, परनारी को हाथ ॥२०९॥

शारंगरव—सत्य है, परन्तु तुम ऐसे हो कि दूसरी का संग पाकर अपने पहले किये को भूलते हो फिर अधर्म से डरना कैसा।

दुष्यन्त—(पुरोहित से) मैं तुम से इस विषय में यह पूछता हूँ—

दोहा—कै मैहीं बौरो भयो, कै झूठी यह नारि।
ऐसे संशय के विषय, तुम कछु कहो बिचारि ॥२१०॥
किधौं दारत्यागी बनूँ, करि याको अपकार।
कै परनारी परस को, लेहुँ दोष सिर भार ॥२११॥

पुरोहित—(सोच कर) अब तो यह करना चाहिये।

दुष्यन्त—क्या करना चाहिये सो कृपा करके कहो।

पुरोहित—जब तक यह भगवती के बालक का जन्म हो तब तक यह मेरे घर रहे, क्योंकि अच्छे अच्छे ज्योतिषियों ने आगे ही कह रखा है कि आप के चक्रवर्ती पुत्र होगा, सो कदाचित् इस मुनि-कन्या के ऐसा ही पुत्र हो, जिसके लक्षण चक्रवर्त्ती के से पाए जायँ तो इसे आदर से रनवास में लेना और न हो तो यह अपने पिता के आश्रम को चली जायगी।

दुष्यन्त—जो तुम बड़ों को अच्छा लगे सो करो।

पुरोहित—(शकुन्तला से) आ पुत्री, मेरे पीछे चली आ।

शकुन्तला—हे धरती, तू मुझे ठौर दे मैं समा जाऊँ।

[रोती हुई पुरोहित के पीछे पीछे तपस्वियों सहित जाती है और राजा शाप के वश भूला हुआ भी शकुन्तला ही का ध्यान करता है]

(नेपथ्य में)—अहा ! बड़ा अचम्भा हुआ ।

दुष्यन्त—(कान लगाकर)—क्या हुआ ? [पुरोहित आता है]

पुरोहित—(आश्चर्य करके) महाराज ! बड़ी अद्भुत बात हुई ।

दुष्यन्त—क्या हुआ ?

पुरोहित—जब यहाँ से कण्व के चेलों की पीठ फिरी—

दोहा— निन्दा अपने भागि की, चली करति वह तीय ।
रोई बांह पसारि कै, भई विथित अति हीय ॥२१२॥

दुष्यन्त—तब क्या हुआ ?

पुरोहित—

दोहा—तब अप्सर तीरथ निकट, जाने कित तें आय ।
ज्योति एक तिय रूप में, लै गई वाहि उड़ाय ॥२१३॥

[सब आश्चर्य करते हैं]

दुष्यन्त—मुझे जो बात पहले भास गई थी सोई हुई । अब इसमें तर्क करना निष्फल है । तुम जाओ विश्राम करो ।

पुरोहित—महाराज की जय हो । [बाहर जाता है ।

दुष्यन्त—हे वेत्रवती मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है तू मुझे शयनस्थान की गैल बता ।

प्रतीहारी—महाराज, इस मार्ग आइये ।

दुष्यन्त—(चलता हुआ आप ही आप)—

दोहा—बिन आए सुधि व्याह की, मैं त्यागी मुनि धीय ।
पै हीयो मेरो कहत, वह सांची है तीय ॥२१४॥

[सब जाते हैं]

वैष्णवता और भारतवर्ष

[लेखक--श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

यदि विचार करके देखा जायगा तो स्पष्ट होगा कि भारतवर्ष का सब से प्राचीन मत वैष्णव है। हमारे आर्य लोगों ने सब से प्राचीन काल में सभ्यता का अवलम्बन किया और इसी हेतु क्या धर्म क्या नीति सब विषय के संसार मात्र के ये दीक्षागुरु हैं। आर्यों ने आदि काल में सूर्य ही को अपने जगत् का सब से उपकारी और प्राणदाता समझकर ब्रह्म माना और इनका मूल मन्त्र गायत्री इसी से इन्हीं सूर्यनारायण की उपासना में कहा गया है। सूर्य की किरणें 'आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः' जलों में और मनुष्यों में व्याप्त रहती हैं और इस द्वारा ही जीवन प्राप्त होता है इसी से सूर्य का नाम नारायण है। हम लोगों के जगत् के ग्रहमात्र जो सब प्रत्येक ब्रह्माण्ड हैं इन्हीं की आकर्षण शक्ति से स्थिर हैं इसी से नारायण का नाम अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड है। इसी सूर्य का वेद में नाम विष्णु है। क्योंकि इन्हीं की व्यापकता से जगत् स्थित है। इसी से आर्यों में सबसे प्राचीन एक ही देवता थे और इसी से उस काल के भी आर्य वैष्णव थे। कालान्तर में सूर्य में चतुर्भुज देव की कल्पना हुई। "ध्येयः सदा सवितृ मंडल मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्ट।" 'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'विष्णोः कर्माणि पश्यत' 'यत्र गावे भूरिशृङ्गाः' 'इदं विष्णु-र्विचक्रमे' इत्यादि श्रुति जो सूर्य नारायण के आधिभौतिक ऐश्वर्य की प्रतिपादक थीं, आधिदैविक सूर्य की विष्णुमूर्ति के वर्णन में व्याख्यात हुईं। चाहे जिस रूप से हो वेदों ने प्राचीन काल से विष्णु महिमा गाई उसके पीछे उस सूर्य की एक प्रतिमूर्ति पृथ्वी पर मानी गई, अर्थात् अग्नि। आर्यों का दूसरा देवता अग्नि है। अग्नि यज्ञ है और 'यज्ञो वै विष्णुः'। यज्ञ ही से रुद्र देवता माने गये। आर्यों के एक छोड़कर दो देवता हुए। फिर तीन और तीन से ग्यारह को तृविधि करने से तैंतीस और इसी तैंतीस से तैंतीस करोड़ देवता हुए। इस विषय का विशेष वर्णन

अन्य प्रसंग में करेंगे। यहाँ केवल इस बात को दिखलाते हैं कि वर्त्तमान समय में भी भारतवर्ष से और वैष्णवता से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। किन्तु योरोप के पूर्वी विद्या जानने वाले विद्वानों का मत है कि रुद्र आदि आर्यों के देवता नहीं हैं (१) वह अनार्यों (Non-Arvan or Tamalian) के देवता हैं। इसके वे लोग आठ कारण देते हैं। प्रथम वेदों में लिङ्ग-पूजा का निषेध है। यथा वसिष्ठ इन्द्र से विनती करते हैं कि हमारी वस्तुओं को 'शिश्नदेवा' (लिङ्गपूजक) से बचाओ इत्यादि। (२) ऋग्वेद और अन्याय ऋचाओं में भी शिश्नदेवा लोगों को असुर दस्यु इत्यादि कहा है और रुद्री में भी रुद्र की स्तुति भयंकर भाव से की है। दूसरी युक्ति यह है कि स्मृतियों में लिङ्गपूजा का निषेध है। (३) प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने वशिष्ठस्मृति के अनुवाद के स्थल में यह विषय बहुत स्पष्ट लिखा है। तीसरी युक्ति वे यह कहते हैं कि लिङ्गपूजक और दुर्गाभैरवादिकों के पूजक ब्राह्मण को पंक्ति से बाहर करना लिखा है। चौथी युक्ति यह कहते हैं कि लिङ्ग का तथा दुर्गाभैरवादि का निर्माल्य खाने में पाप लिखा है। पाँचवें शास्त्रों में शिवमंदिर और भैरवादिकों के मंदिर को नगर के बाहर बनाना लिखा है। छठवें वे लोग कहते हैं कि शैवबीज मन्त्र से दीक्षित और शिव को छोड़कर देवता को न मानने वाले ऐसे शुद्ध शैव भारतवर्ष में बहुत ही थोड़े हैं। या तो शिवोपासक स्मार्त हैं या शाक्त। शाक्त भी शिव को पार्वती के पति समझकर विशेष आदर देते हैं, कुछ सर्वेश्वर समझ कर नहीं। जंगमादिक दक्षिण में जो दीक्षित शैव हैं वे बहुत ही थोड़े हैं। शाक्त तो जो दीक्षित होते हैं वे प्रायः कौल ही हो जाते हैं। सौर गाणपत्य की तो कुछ गिनती ही नहीं। किन्तु वैष्णवों में मध्व और रामानुज को छोड़कर और इनमें भी जो निरे आग्रही हैं वे ही तो साधारण स्मार्तों से कुछ भिन्न हैं, नहीं तो दीक्षित वैष्णव भी साधारण जन समाज से कुछ भिन्न नहीं और एक प्रकार से अदीक्षित वैष्णव तो सभी हैं। सातवीं युक्ति इन लोगों की यह है कि जो अनार्य लोग प्राचीन काल में भारतवर्ष में रहते थे और जिनको आर्य लोगों ने जीता था वह शिल्प विद्या नहीं जानते थे और इसी हेतु लिङ्ग ढोंका या सिद्धपीठ इत्यादि पूजा उन्हीं लोगों की है जो अनार्य

हैं। आठवें शिव, काली, भैरव इत्यादि के वस्त्र, निवास, आभूषण आदिक सभी आर्यों से भिन्न हैं। स्मशान में बास, अस्थि की माला आदि जैसी इन लोगों की वेषभूषा शास्त्रों में लिखी है वह आर्योचित नहीं है। इसी कारण शास्त्रों में शिव का, भृगु और दक्ष आदि का विवाद कई स्थल पर लिखा है और रुद्रभाग इसी हेतु यज्ञ के बाहर है। यद्यपि ये पूर्वोक्त युक्तियां योरोपीय विद्वानों की हैं; हम लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु इस विषय में बाहर वाले क्या कहते हैं, केवल यह दिखलाने को यहाँ लिखी गई हैं।

पाश्चिमात्य विद्वानों का मत है कि आर्य लोग (Aryans) जब मध्य एशिया (Central Asia) में थे तभी से वे लोग विष्णु का नाम जानते हैं। ज़ारोस्ट्रियन (Zorostrian) ग्रन्थ जो ईरानी और आर्य शाखाओं के भिन्न होने के पूर्व के लिखे हैं उनमें भी विष्णु का वर्णन है। वेदों के आरम्भकाल से पुराणों के समय तक तो विष्णु महिमा आर्यग्रन्थों में पूर्ण है। वरंच तन्त्र और आधुनिक भाषा ग्रन्थों में उसी भाँति एकछत्र विष्णु महिमा का राज्य है।

पण्डितवर बाबू राजेन्द्रलाल मित्र ने वैष्णवता के काल को पाँच भाग में विभक्त किया है। यथा (१) वेदो के आदि समय की वैष्णवता (२) ब्राह्मण के समय की वैष्णवता, (३) पाणिनि के और इतिहासों के समय की वैष्णवता, (४) पुराणों के समय की वैष्णवता, (५) आधुनिक समय की वैष्णवता।

वेदों के आदि समय से विष्णु की ईश्वरता कही गई है। ऋग्वेद संहिता में विष्णु की बहुत सी स्तुति हैं। विष्णु को किसी विशेष स्थान का नायक या किसी विशेष तत्व वा कर्म्म का स्वामी नहीं कहा है, वरंच सर्वेश्वर की भाँति स्तुति किया है। यथा विष्णु पृथ्वी के सातों तहों पर फैला है। विष्णु ने जगत् को अपने तीन पैर के भीतर किया। जगत् उसी के रज में लिपटा है। विष्णु के कर्म्मों को देखो जो कि इन्द्र का सखा है। ऋषियो! विष्णु के ऊंचे पद को देखो, जो एक आँख की भाँति आकाश में स्थिर है। पण्डितो! स्तुति गाकर विष्णु के ऊँचे पद को खोजो। इत्यादि ब्राह्मणों ने इन्हीं मन्त्रों का बड़ा विस्तार किया है और अब तक यज्ञ, होम, श्राद्ध आदि

सभी कर्मों में ये मन्त्र पढ़े जाते हैं। ऐसे ही और स्थानों में विष्णु को जगत् का रक्षक, स्वर्ग और पृथ्वी का बनाने वाला, सूर्य और अन्धेरे का उत्पन्न करने वाला इत्यादि लिखा है। इन मन्त्रों में विष्णु के विषय में रूप का परिचय इतना ही मिलता है कि उसने अपने तीन पदों से जगत् को व्याप्त कर रखा है। यास्क ने निरुक्त में अपने से पूर्व के दो ऋषियों का मत इसके अर्थ में लिखा है। यथा शाक मुनि लिखते हैं कि ईश्वर का पृथ्वी पर रूप अग्नि है, घन में विद्युत् है और आकाश में सूर्य है। सूर्य की पूजा किसी समय समस्त पृथ्वी में होती थी यह अनुमान होता है। सब भाषाओं में अद्यापि यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'उठते हुए सूर्य को सब पूजता है।' अरुण भाव सूर्य के उदय, मध्य और अस्त की अवस्था का तीन पद मानते हैं।) दुर्गाचार्य अपनी टीका में उसी मत को पुष्ट करते हैं। सायणाचार्य विष्णु के वावन अवतार पर इस मन्त्र को लगाते हैं। किन्तु यज्ञ और आदित्य ही विष्णु हैं, इस बात को बहुत लोगों ने एक मत होकर माना है। अस्तु विष्णु उस समय आदित्य ही को नामान्तर से पुकारा है कि स्वयं विष्णु देवता आदित्य से भिन्न थे, इसका झगड़ा हम यहाँ नहीं करते। यहाँ यह सब लिखने से हमारा केवल यह आशय है कि अति प्राचीन काल से विष्णु हमारे देवता हैं। अग्नि, वायु और सूर्य यह तीनों रूप विष्णु के हैं; इन्हीं से ब्रह्मा शिव और विष्णु यह तीन मूर्तिमान् देव हुए हैं।

ब्राह्मण के समय में विष्णु की महिमा सूर्य से भिन्न कहकर विस्तार रूप से वर्णित है और शतपथ ऐतरेय और तैत्तिरीय ब्राह्मण में देवताओं का द्वारपाल देवताओं के हेतु जगत् का राज्य बचानेवाला इत्यादि कहकर लिखा है।

इतिहासों में रामायण और भारत में विष्णु की महिमा स्पष्ट है, वरंच इतिहासों के समय में विष्णु के अवतारों का पृथ्वी पर माना जाना भी प्रगट है। पाणिनी के समय के बहुत पूर्व कृष्णावतार, कृष्णपूजा और कृष्णभक्ति प्रचलित थी, यह उनके सूत्र ही से स्पष्ट है। यथा जीविकार्थे चापण्ये वासुदेवः ॥५॥३॥६६॥० कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यानात्।३।३।१५ ६०·

वासुदेवे भक्तिरस्य वासुदेवकः ॥४॥३॥६८॥० और प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सुभद्रा नाम इत्यादि के पाणिनि के लिखने ही से सिद्ध है कि उस समय के अतिपूर्व कृष्णावतार की कथा भारतवर्ष में फैल गई थी। यूनानियों के उदय के पूर्व पाणिनि का समय सभी मानते हैं। विद्वानों का मत है कि क्रम से पूजा के नियम भी बदले तथा पूर्व में यज्ञाहुति, फिर बलि और अष्टांग पूजा आदि हुई और देव विषयक ज्ञान की वृद्धि के अन्त में सब पूजन आदि से उसकी भक्ति श्रेष्ठ मानी गई।

पुराणों के समय में तो विधि पूर्वक वैष्णव मत फैला हुआ था, यह सब पर विदित ही है। वैष्णव पुराणों की कौन कहे, शक्ति और शैव पुराणों में भी उन देवताओं की स्तुति उनको विष्णु से सम्पूर्ण भिन्न कर के नहीं कर सके हैं। अब जैसा वैष्णवमत माना जाता है उसके बहुत से नियम पुराणों के समय से और फिर तंत्रों के समय से चले हैं। दो हज़ार वर्ष की पुरानी मूर्तियाँ वाराह, राम, लक्ष्मण और वासुदेव की मिली हैं और उनपर भी खुदा हुआ है कि उन मूर्तियों की स्थापना करनेवालों का वंश भागवत अर्थात् वैष्णव था। राजतरंगिणी के ही देखने से राम, केशव आदि मूर्तियों की पूजा यहाँ बहुत दिन से प्रचलित है, यह स्पष्ट हो जाता है। इससे इसकी नवीनता या प्राचीनता का झगड़ा न करके यहाँ थोड़ा सा इस अदल बदल का कारण निरूपण करते हैं।

मनुष्य के स्वभाव ही में यह बात है कि जब वह किसी बात पर प्रवृत्त होता है तो क्रमशः उसकी उन्नति करता जाता है और उस विषय को जब तक वह एक अन्त तक नहीं पहुँचा लेता सन्तुष्ट नहीं होता। सूर्य के मानने की ओर जब मनुष्यों की प्रवृत्ति हुई तो इस विषय को भी वे लोग ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि से देखते गये।

प्रथमतः कर्म मार्ग में फँसकर लोग अनेक देवी देवों को पूजते हैं, किन्तु बुद्धि का यह प्रकृत धर्म है कि यह ज्यों ज्यों समुज्ज्वल होती है आप विषय मात्र को उज्ज्वल करती जाती है। थोड़ी बुद्धि बढ़ने ही से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी देव इस अनन्त सृष्टि के नियामक नहीं

हो सकते, इसका कर्ता स्वतन्त्र कोई विशेष शक्ति सम्पन्न ईश्वर है। तब उसका स्वरूप जानने की इच्छा होती है, अर्थात् मनुष्य कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड में आता है। ज्ञानकाण्ड में सोचते सोचते संगति और रुचि के अनुसार या तो मनुष्य फिर निरीश्वरवादी हो जाता है या उपासना में प्रवृत्त होता है। उस उपासना की विचित्र गति है। यद्यपि ज्ञानवृद्धि के कारण प्रथम मनुष्य साकार उपासना छोड़कर निराकार की ओर रुचि करता है, किन्तु उपासना करते करते जहाँ भक्ति का प्राबल्य हुआ वहीं अपने उस निराकार उपास्य को भक्त फिर साकार करने लगता है। बड़े बड़े निराकार-वादियों ने भी "प्रभो दर्शन दो ! अपने चरणकमलों को हमारे सिर पर स्थान दो, अपनी माधुमयी वाणी श्रवण कराओ", इत्यादि प्रयोग किया है। वैसे ही प्रथम सूर्य पृथ्वीवासियों को सब से विशेष आश्चर्य और गुणकारी वस्तु बोध हुई, उससे फिर उनमें देव-बुद्धि हुई। देवबुद्धि होने ही से आधिभौतिक सूर्य मण्डल के भीतर एक आधिदैविक नारायण लाये गये। फिर अन्त में कहा गया कि नारायण एक सूर्य ही में नहीं सर्वत्र हैं, और अनन्तकोटि सूर्य, चन्द्र, तारा उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अर्थात् आध्यात्मिक नारायण की उपासना में लोगों की प्रवृत्ति हुई।

इन्हीं कारणों से वैष्णवमत की प्रवृत्ति भारतवर्ष में स्वाभाविकी है। जगत में उपासना मार्ग ही मुख्य धर्म मार्ग समझा जाता है। कृस्तान, मुसल्मान, ब्राह्म, बौद्ध, उपासना सब के यहाँ मुख्य है। किन्तु, बौद्धों में अनेक सिद्धों की उपासना और तप आदि शुभ कर्मों के प्राधान्य से वह मत हम लोगों के स्मार्त मत के सदृश है और कृस्तान, ब्राह्म, मुसल्मान आदि के धर्म में भक्ति की प्रधानता से ये सब वैष्णवों के सदृश हैं। इंजील में वैष्णवों के ग्रन्थों से बहुत सा विषय लिया है और ईसा के चरित्र में श्रीकृष्ण के चरित्र का सादृश्य बहुत है, यह विषय सविस्तार भिन्न प्रबन्ध में लिखा गया है। तो जब ईसाइयों के मत को ही हम वैष्णवों का अनुगामी सिद्ध कर सके हैं, फिर मुसल्मान जो कृस्तान के अनुगामी हैं वे हमारे अन्वनुगामी हो चुके।

यद्यपि यह निर्णय करना अब अति कठिन है कि अति प्राचीन के

ध्रुव, प्रह्लाद आदि मध्यावस्था के उद्धव, आरुणि परीक्षितादिक और नवीन काल के वैष्णवाचार्यों के खान-पान, रहन-सहन उपासना-रीति, वाह्य,चिन्ह आदि में कितना अन्तर पड़ा है,किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि विष्णु उपासना का मूल सूत्र अति प्राचीनकाल से अनवच्छिन्न चला आता है। ध्रुव, प्रह्लादादि वैष्णव तो थे, किन्तु अब के वैष्णवों की भांति कंठी, तिलक, मुद्रा लगाते थे और मांस आदि नहीं खाते थे, इन बातों का विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता। ऐसे ही भारत वर्ष में जैसी धर्म रुचि अब है उससे स्पष्ट होता है कि आगे चलकर वैष्णव मत में खाने-पीने का विचार छूटकर बहुत सा अदल-बदल अवश्य होगा। यद्यपि अनेक आचार्यों ने इसी आशा से मत प्रवृत्त किया कि इसमें सब मनुष्य समानता लाभकर और परस्पर खानपानादि से लोगों में ऐक्य बढ़े और किसी जातिवर्ण देश का मनुष्य क्यों न हो वैष्णव पंक्ति में आ सके, किन्तु उन लोगों की उदार इच्छा भली भांति पूरी नहीं हुई, क्योंकि स्मार्त मत की और ब्राह्मणों की विशेष हानि के कारण इस मत के लोगों ने उस समुन्नत भाव से उन्नति को रोक दिया, जिससे अब वैष्णवों में छुआछूत सब से बढ़ गया। बहुदेवोपासकों की घृणा देने के अर्थ वैष्णवा-तिरिक्त और किसी का स्पर्श बचाते वहाँ तक एक बात थी, किन्तु अब तो वैष्णवों ही में ऐसा उपद्रव फैला है कि एक सम्प्रदाय के वैष्णव दूसरे सम्प्रदाय वाले को अपने मंदिर में और अपने खान पान में नहीं लेते और 'सात कनौजिया नौ चूल्हे' वाली मसल हो गई है। किन्तु काल की वर्त्तमान गति के अनुसार यह लक्षण उनकी अवनति के हैं। इस काल में तो इसकी तभी उन्नति होगी जब इसके वाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता होगी और एकता बढ़ाई जायगी और आन्तरिक उपासना की उन्नति की जायगी। यह काल ऐसा है कि लोग उसी मत को विशेष मानेंगे जिसमें बाह्यदेहकष्ट न्यून हो। यद्यपि वैष्णव धर्म भारतवर्ष का प्रकृत धर्म है इस हेतु उसकी ओर लोगों की रुचि होगी, किन्तु उसमें अनेक संस्कारों की अतिशय आवश्यकता है। प्रथम तो गोस्वामीगण अपना रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव छोड़ेंगे तब काम चलेगा। गुरु लोगों में एक तो विद्या ही नहीं होती, जिसके

न होने से शील, नम्रता आदि उनमें कुछ नहीं होते। दूसरे या तो वे अति रूखे क्रोधी होते हैं या अतिविलासलालस हो होकर स्त्रियों की भाँति सदा दर्पण ही देखा करते हैं। अब वह सब स्वभाव उनको छोड़ देना चाहिए क्योंकि इस उन्नीसवीं शताब्दी में वह श्रद्धाजाड्य अब नहीं बाकी है। अब कुकर्मी गुरु का भी चरणामृत लिया जाय वह दिन छप्पर पर गये। जितने बूढ़े लोग अभी तक जीते हैं उन्हीं के शील संकोच से प्राचीन धर्म इतना भी चल रहा है, बीस पचीस वर्ष पीछे फिर कुछ नहीं है। अब तो गुरु गोसांई का चरित्र ऐसा होना चाहिये कि जिसको देख सुन कर लोगों में श्रद्धा से स्वयं चित्त आकृष्ट हो। स्त्रीजनों का मन्दिरों से सहवास निवृत्त किया जाय। केवल इतना ही नहीं भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र की केलि कथा जो अति रहस्य होने पर भी बहुत परिमाण से जगत् में प्रचलित है वह केवल अन्तरंग उपासकों पर छोड़ दी जाय, उनके महात्म्य मत विशद चरित्र का महत्व यथार्थ रूप से व्याख्या करके सब को समझाया जाय। रास क्या है, गोपी कौन हैं, यह सब रूपक अलंकार स्पष्ट करके श्रुति सम्मत उनका ज्ञान वैराग्य भक्तिबोधक अर्थ किया जाय। यह भी दबी जीभ से हम डरते डरते कहते हैं कि व्रत, स्नान आदि भी वहीं तक रहे जहाँ तक शरीर को अति कष्ट न हो। जिस उत्तम उदाहरण के द्वारा व्यापक आचार्य गण ने आत्मसुख विसर्जन करके भक्तिसुधा से लोगों को प्लावित कर दिया था उसी उदाहरण से अब भी गुरु लोग धर्मप्रचार करें। बाह्य आग्रहों को छोड़कर केवल आन्तरिक उन्नत प्रेममयी भक्ति का प्रचार करें, देखें कि दिग्दिगन्त से हरिनाम की कैसी ध्वनि उठती है और विधर्मीगण भी इसको सिर झुकाते हैं कि नहीं, और सिक्ख कबीरपन्थी आदि कनेक दल के हिन्दूगण भी सब आप से आप बैर छोड़ कर इस उन्नत समाज में मिल जाते हैं कि नहीं।

जो कोई कहे कि यह तुम कैसे कहते हो कि वैष्णव मत ही भारतवर्ष का प्रकृत मत है तो उसके उत्तर में हम स्पष्ट कहेंगे कि वैष्णवमत ही भारत वर्ष का मत है और वह भारतवर्ष की हड्डी लहू में मिल गया है। इसके अनेक प्रमाण हैं, क्रम से सुनियेः—पहले तो कबीर, दादू, सिक्ख-बाउल आदि जितने

पंथ हैं सब वैष्णवों की शाखा प्रशाखायें है और सारा भारतवर्ष इन पन्थों से छाया हुआ है। (२) अवतार और किसी देव का नहीं, क्योंकि इतना उपकार ही (दस्यु दलन आदि) और किसी से नहीं साधित हुआ है। (३) नामों को लीजिये तो, क्या स्त्री, क्या पुरुष आधे नाम भारतवर्ष के विष्णु सम्बन्धी हैं और आधे में जगत् है। कृष्ण भट्ट, रामसिंह, गोपालदास, हरिदास, रामगोपाल राधा, लक्ष्मी, रुक्मिन, गोपी, जानकी आदि। विश्वास न हो कलेक्टरी के दफ़्तर से मर्दुमशुमारी के कागज़ निकाल कर देख लीजिए, या एक दिन डाक घर में बैठकर चिट्ठियों के लिफाफों की सैर कीजिये। (४) ग्रन्थ, काव्य नाटक आदि के, सस्कृत या भाषा के, जो प्रचलित हैं उनको देखिए। रघुवंश, माघ, रामायण आदि ग्रन्थ विष्णुचरित्र के ही बहुत हैं (५) पुराण में भारत, भागवत, वाल्मीकि रामायण यही बहुत प्रसिद्ध हैं और यह तीनों वैष्णव ग्रन्थ हैं। (६) व्रतों में सब से मुख्य एकादशी है वह वैष्णव व्रत है और भी जितने व्रत हैं उनमें आधे वैष्णव हैं। (७) भारतवर्ष में जितने मेले हैं उनमें आधे से विशेष विष्णुलीला, विष्णुपर्व या विष्णुतीर्थों के कारण हैं। (८) तिहवारों की भी यही दशा है वरंच होली आदि साधारण तिहवारों में भी विष्णुचरित्र ही गाया जाता है। (९) गीत, छन्द चौदह आना विष्णुपरत्व हैं, दो आना और देवताओं के। किसी का ब्याह हो, रामजानकी के ब्याह के गीत सुन लीजिए। किसी के बेटा हो नन्द बधाई गायी जायगी। (१०) तीर्थों में भी विष्णुसम्बन्धी ही बहुत हैं। अयोध्या, हरिद्वार, मथुरा वृन्दाबन, जगन्नाथ, रामनाथ, रंगनाथ, द्वारका, बदरीनाथ आदि भली भाँति याद करके देख लीजिये। (११) नदियों में गंगा, यमुना, मुख्य हैं, सो इनका महात्म्य केवल विष्णुसम्बन्ध से है। (१२) गया में हिन्दू मात्र को पिण्डदान करना होता है, वहाँ भी विष्णुपद है। (१३) मरने के पीछे "राम राम सत्य है" इसी की पुकार होती है। और अन्त में शुद्ध श्राद्ध तक 'प्रेतमुक्तिप्रदो भव' आदि वाक्य से केवल जनार्दन ही पूजे जाते हैं। यहाँ तक कि पितृरूपी जनार्दन ही कहलाते हैं। (१४) नाटकों और तमाशों में रामलीला; रास ही अति प्रचलित हैं। (१५) सब वेद पुस्तकों के आदि और अन्त में लिखा रहता है

'हरिः ॐ', (१६) संकल्प कीजिये तो विष्णुः विष्णुः (१७) आचमन में विष्णु विष्णु। (१८) शुद्ध होना हो तो यः स्मरे पुण्डरीकाक्ष। (१९) सुग्गे को भी राम ही राम पढ़ाते हैं। (२१) जो कोई वृतान्त कहे तो उसको राम कहानी कहते हैं। लड़कों को बाल गोपाल कहते हैं। (२२) छपने में जितने भागवत, रामायण, प्रेमसागर, ब्रजविलास छापी जाती हैं और देवताओं के चरित्र उतने नहीं छपते। (२३) आर्य लोगों के शिष्टाचार में रामराम, जयश्रीकृष्ण, जयगोपाल, ही प्रचलित हैं। (२४) ब्राह्मणों के पीछे वैष्णव वैरागी ही को हाथ जोड़ते हैं और भोजन कराते हैं। (२५) विष्णु के साला होने के कारण चन्द्रमा को सभी चन्दामामा कहते हैं। (२६) गृहस्त के घर पर तुलसीका थाला, ठाकुर की मूर्ति, रसोई भोग लगाने को रहती है। (२७) कथा घाट बाट में भागवत ही रामायण की होती है। (२८) नगरों के नाम में भी रामपुर, गोविन्दगढ़, रघुनाथपुर, गोपालपुर आदि ही विशेष हैं। (२९) मिठाई में गोविन्दबड़ी, मोहनभोग आदि नाम हैं, अन्य देवतों का कहीं कुछ नाम नहीं है। (३०) सूर्यचन्द्रवंशी क्षत्री लोग श्रीराम कृष्ण के वंश में होने का अब तक अभिमान करते हैं। (३१) ब्राह्मणगण ब्राह्मण्य देव कह कर अब तक कहते हैं ब्राह्मणो मामकीतनुः'। (३२) औषधियों में भी रामबाण, नारायण चूर्ण आदि नाम मिलते हैं। (३३) कार्तिक स्नान, राधा दामोदर की पूजा, देखिए भारतवर्ष में कैसी है। (३४) तारकमन्त्र लोग श्रीरामनाम ही को कहते है। (३५) किसी हौस में चले जाइए, तूल के थान निकलवा कर देखिए उस पर जितने चित्र विष्णुलीला सम्बन्धी मिलेंगे अन्य नहीं। (३६) बारहों महीने के देवता विष्णु हैं। ऐसी ही अनेक अनेक बातें हैं। विष्णुसम्बन्धी नाम बहुत वस्तुओं के हैं, कहाँ तक लिखे जाँय। विष्णुपद (आकाश), विष्णुरात (परीक्षित), रामदाना, रामधेनु, रामजी की गैया, रामधनु (आकाश धनु), रामफल, सीताफल, रामतरोई श्रीफल, हरिगीती रामकली, रामकपूर, रामगिरी, रामचन्दन, रामगंगा, हरिचन्दन, हरिसिंगार, हरिकेल, हरिनेत्र (कमल), हरिकेली (बंगला देशी) हरिप्रिय (सफेद चन्दन), हरिवासर। (एकादशी), हरिबीज। (बगुनाबू), हरिवर्षखंड, कृष्णाकली, कृष्ण कन्द

कृष्णकान्ता, विष्णुकान्ता, (फूल) सीतामक, सीताबलदी, सीताकुण्ड, सीतामढ़ी, सीता की रसोई, हरिपर्वत, हरि का पत्तन, रामगढ़, रामबाग, रामशिला, रामजी की घोड़ी, हरिपदा (आकाशगंगा), नारायणी, कन्हैया आदि नगर, नद नदी, पर्वत, फलफूल के सैकड़ों नाम हैं। (जले विष्णुः स्थले विष्णुः) सब स्थान पर विष्णु के नाम ही का सम्बन्ध विशेष है। आग्रह छोड़ कर तनिक ध्यान देकर देखिये कि विष्णु से भारतवर्ष से क्या सम्बन्ध है, फिर हमारी बात स्वयं प्रमाणित होती है कि नहीं कि भारतवर्ष का प्रकृत मत वैष्णव ही है।

अब वैष्णवों से यह निवेदन है कि आप लोगों का मत कैसी दृढ़ भित्ति पर स्थापित है और कैसे सार्वजनीन उदारभाव से परिपूर्ण है यह कुछ कुछ हम आप लोगों को समझा चुके। उसी भाव से आप लोग भी उसमें स्थिर रहिए यही कहना है। जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा। अब हम लोगों के शरीर का बल न्यून हो गया, विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई; जीविका और धन उपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पाँच पाँच छः छः पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहौर और बम्बई से शिमला दौड़ना पड़ेगा, सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का इंजिनियरी का इम्तहान देने को विलायत जाना होगा, बिना यह सब किये काम नहीं चलेगा, क्योंकि देखिए, कृस्तान, मुसलमान, पारसी यही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दिन दिन हीन हुई जाती है। जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा, इससे जीवमात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिये। परस्पर का बैर छोड़िए। शैव, शाक्त सिक्ख जो हों सब से मिलो। उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्यसमाजी सब अलग अलग पतली पतली डोरी हो रहे हैं, इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरी को एक में बाँधकर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिग दिगंत भागने से रुकेगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न भिन्न

अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें। अब महाघोरकाल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अँगरेज़ों से जो नौकरी बच जाती हैं उस पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं, केवल नौकरी की थी, सो भी धीरे धीरे खसकी। तो अब कैसे काम चलेगा। कदाचित् ब्राह्मण और गोसाईं लोग कहैं कि हमको तो मुफ़्त का मिलता है, हमको क्या? इस पर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं को रोना है। जो करालकाल चला आता है उसको आँख खोलकर देखो। कुछ दिन पीछे आप लोगों के मानने वाले बहुत ही थोड़े रहेंगे, अब सब लोग एकत्र हों। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तन्त्र, वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परमधर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्यमात्र एक रहो। धर्म-सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर प्रकृतधर्म की उन्नति करो।

साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है

[लेखक—पं० बालकृष्ण भट्ट]

प्रत्येक देश का साहित्य उसके मनुष्यों के हृदय का आदर्शरूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त या किसी प्रकार की चिन्ता से दोचित्ता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलिन रहती है; उस समय उसके कंठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फुटही ढोल के समान बेसुरी, बेताल बेलय या करुणापूर्ण, गद्‌गद तथा विकृतस्वरसंयुक्त होती है। वही जब निज आनन्द की लहरों से उद्वेलित हो नृत्य करता है और सुख की परंपरा में मग्न रहता है, उस समय मुख विकसित

कमल सा प्रफुल्लित नेत्र मानो हँसता सा, और अंग अंग स्फूर्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठध्वनि भी तब वसन्त-मदमत्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सोहावनी मन भाती है। मनुष्य के सम्बन्ध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परितापजनित हृदय-विदारी करुणानिस्वान, कभी वीरतागर्व से बाहुबल के हर्ष में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के भावों का उद्‌गार देखा जाता है। इसलिये साहित्य यदि जनसमूह (Nation)के चित्त का चित्रपट कहा जाय, तो संगत है। किसी देश के इतिहास से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं; पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय के आभ्यन्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।

हमारे पुराने आर्यों का इतिहास वेद है। उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी; बालकों के समान जिनका भाव, भोलापन, उदार भाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण तथा पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं। वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकास था, वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यंतरिक भेद, वर्णविवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे; कणाद या कपिल के समान अपने अपने शास्त्र के मूलभूत सूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छान में दिन रात नहीं डूबे रहते थे; न कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के सम्प्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम-विलास और लावण्य लीला-लहरी में गोते मार मार प्रमत्त हुए थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छानबीन किये उसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। उसके द्वारा वे अनेक प्रकार लाभ देख काननस्थित विहंग-कूजन-समान कल-कल रव से प्रकृति की प्रभातवदना का साम गाने लगे; जल-भार-नत श्यामला मेघमाला का नवीन सौंदर्य देख पुलकित गात्र हो कृतज्ञता-सूचक उपहार की भाँति स्तोत्र

का पाठ करने लगे; वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी, तो उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ हो गईं। उस समय अब के समान राजनीतिक अत्याचार कुछ न था, इसी से उनका साहित्य राजनीति की कुटिल उक्ति-युक्ति से मलिन नहीं हुआ था। नये आये हुये आर्यों की नूतन प्रथित समाज के संस्थापन में सब तरह की अपूर्णता थी सही, पर सब का निर्वाह अच्छी तरह होता था; किसी को किसी कारण से किसी प्रकार का अस्वास्थ्य न था; आपस में एक दूसरे के साथ अब का सा बनावटी कुटिल बर्ताव न था। इस लिये उस समय के उनके साहित्य वेद में भी कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम सौहार्द, कपटवृत्ति, बनावट और चुनाचुनी ने स्थान नहीं पाया। उन आर्यों का धर्म अब के समान गला घोटने वाला न था। सब के साथ सबकी सहानुभूति खान-पान द्वारा रहती थी। उनके बीच धार्मिक मनुष्य अब के धर्मध्वजियों के समान दाम्भिक बन महाव्याधि सदृश लोगों के लिये गलग्रह न थे। सिधाई, भोलापन और उदारभाव उनके साहित्य के एक एक अक्षर से टपक रहा है। एक बार महात्मा ईसा एक सुकुमारमति बालक को अपने गोद में बैठा कर अपने शिष्यों की ओर इशारा कर के बोले कि जो कोई छोटे बालकों के समान भोला न बने, उसका स्वर्ग के राज्य में कुछ अधिकार नहीं है। हम भी कहते हैं, जो सुकुमारचित्त वेदभाषी इन आर्यों की तरह पद पद में ईश्वर का भय रख, प्राकृतिक पदार्थों के सौन्दर्य पर मोहित होकर, बालकों के समान सरलमति न हो उसका स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना अति दुष्कर है।

इन्हीं प्राकृतिक पदार्थों का अनुशीलन करते करते इन आर्यों को ईश्वर के विषय में जो जो भाव उदय हुए, वे ही सब एक नये प्रकार का साहित्य उपनिषद् के नाम से कहलाये। जब इन आर्यों की समाज अधिक बढ़ी और लोगों की रीति नीति और बर्ताव में भिन्नता होती गई, तब सबों को एकता के सूत्र में बद्ध रखने के लिये अपने अपने गुण कर्म से लोग चल विचल हो सामाजिक नियमों को जिसमें किसी प्रकार की हानि न पहुँचावें इस

लिये स्मृतियों के साहित्य का जन्म हुआ। मनु, अत्रि, हारीत, याज्ञवल्क्य आदि ने अपने नाम की संहिता बना विविध प्रकार के राजनीतिक सामाजिक और धर्म सम्बन्धी विषयों का सूत्रपात किया। उन्हीं के समकालीन गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनि, पतंजलि आदि हुए जिन्होंने अपने अपने सोचने का परिणाम-रूप दर्शन-शास्त्रों की बुनियाद डाली। यहाँ तक जो साहित्य हुए उनमें यद्यपि वेद की भाषा का अनुसरण होता गया, परन्तु नित्य नित्य उनकी भाषा अधिक अधिक सरल कोमल और परिष्कृत होती गई। तथापि उनकी गणना वैदिक भाषा में ही की जाती है। इन स्मृतियों और आर्ष ग्रन्थों की भाषा को हम वैदिक और आधुनिक संस्कृत के बीच की भाषा कह सकते हैं। अब से संस्कृत के दो खण्ड होते चले जो वेद तथा लोक के नाम से कहे जाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में, जो संस्कृत-पाठियों के लिये कामधेनु का काम दे रहे हैं और जिनसे वैदिक और लौकिक सब प्रयोग सिद्ध होते हैं, लोक और वेदकी निरख अच्छी तरह की गई है। और इसी वेद और लोक के अलग अलग भेद से साबित होता है कि संस्कृत किसी समय प्रचलित भाषा थी, जो लोगों के बोलचाल के बर्ताव में लाई जाती थी।

वेद के उपरान्त रामायण और महाभारत बड़े बड़े अंग समझे गये। रामायण के समय भारतीय सभ्यता का प्रेमोच्छ्वास-परिप्लावित नूतन यौवन था; किन्तु महाभारत के समय भारतीय सभ्यता क्षति-ग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी। रामायण के प्रधान पुरुष, रघुकुलावतंस श्रीरामचन्द्र थे; और भारत के प्रधान पुरुष, बुद्धि की तीक्ष्णता के रूप, कूटयुद्धविशारद, भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण या उनके हाथ की कठपुतली युधिष्ठिर थे। रामायण के समय से भारत के समय में लोगों के हृद्गत भाव में कितना अन्तर हो गया था कि रामायण प्रतिद्वंदी भाई इस बात के लिये विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्यसिंहासन हमारा नहीं है, यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे। अन्त में रामचन्द्र भरत को विचार में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप आनन्द-निर्भर-चित्त हो सस्त्रीक बनवासी हुए। वहीं महाभारत में दो दायाद भाई इस बात के लिये कलह करने को सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का

अग्रभाग ढक जाय उतनी पृथ्वी भी हम बिना युद्ध के न देंगे "सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव।" परिणाम में एक भाई दूसरे पर जय लाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर पादाघात से उसे वध कर भाई के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सुख में फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ। रामायण और महाभारत के आचार्य क्रम से कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि और व्यास थे। पृथ्वी के और और देशों में इनके समान या इनसे बढ़कर कवि नहीं हुए ऐसा नहीं है। यूनान देश में होमर, रोम देश में वरजिल, इटली में डेंटी, इङ्गलैण्ड में चासर और मिल्टन अपनी अपनी साधारण प्रतिभा से मनुष्य जाति का गौरव बढ़ाने में कुछ कम न थे। परन्तु विचित्र कल्पना और प्रकृति के यथार्थ अनुकरण में चिरन्तन वृद्ध वाल्मीकि के समान होमर तथा मिल्टन किसी अंश में नहीं बढ़ने पाये, जिनकी कविता के प्रधान नायक श्रीरामचन्द्र आर्य जाति के प्राण, दया के अमृत-सागर, गाम्भीर्य और पौरुष-दर्प की मानो सजीव प्रतिकृति थे। वे प्रीति और समभाव से महानीच जाति तक को गले से लगाते थे। उन्होंने लंकेश्वर से प्रबल प्रतिद्वंदी शत्रु को कभी तृण के बराबर भी नहीं समझा। स्वर्णमंडित सिंहासन और तपोवन में पर्णकुटी उन्हें एक सी सुखकारी हुईं। उनके स्मित-पूर्णाभिभाषित्व और उनकी बोलचाल की मुग्धमाधुरी पर मोहित हो दंडकारण्य की असभ्य जाति ने भी अपने को उनका दास माना। अहा! धन्य श्रीरामचन्द्र का अलौकिक माहात्म्य, धन्य वाल्मीकि की कल्पनासरसी, जिनमें ऐसे ऐसे स्वर्ण-कमल प्रस्फुटित हुए।

काल के परिवर्तन की कैसी महिमा है, जो अपने साथ ही साथ मानुषी प्रकृति के परिवर्तन पर भी बहुत कुछ असर पैदा कर देता है। वाल्मीकि ने जिन जिन बातों को अपगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचन्द्र में बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय में गुण हो गईं, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मन अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पावे। भारत के हर एक प्रसंग का तोड़ अन्त में इसी बात पर है। शत्रु-संहार और निज कार्य-साधन-निमित्त व्यास ने महाभारत में जो

जो उपदेश दिये हैं और राजनीति की काटछाँट जैसी दिखाई है, उसे सुन बिस्मार्क सरीखे इस समय के राजनीति के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अकल भी चरने चली जाती होगी। इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ साधन तथा प्रवंचना-परवश भारत उस समय तक उदार भाव, समवेदना आदि उत्तम गुणों से विमुख हो गया था। युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं; पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य-साधन के समय सब खुल गई। "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा।" इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं; किन्तु उन्हें विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखते।

महाभारत के उपरांत भारत और का और ही हो गया। उसकी दशा के परिवर्तन के साथ ही साथ उसके साहित्य में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। उपरांत बौद्धों का जोर हुआ। यह सब वेद और ब्राह्मणों के बड़े विरोधी थे। वेद की भाषा संस्कृत थी। इसलिए उन्होंने संस्कृत को बिगाड़ प्राकृत भाषा जारी की। तब से संस्कृत सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा न रही। फिर भी संस्कृतभाषी उस समय बहुत से लोग थे, जिन्होंने इस नई भाषा को प्राकृत नाम दिया जिसके अर्थ ही यह हैं कि प्राकृत अर्थात् नीचों की भाषा। अतएव संस्कृत नाटकों में नीच पात्र की भाषा प्राकृत और उत्तम पात्र ब्राह्मण या राजा आदि की भाषा संस्कृत रक्खी गई है। कुछ काल उपरान्त यह भाषा भी बहुत उन्नति को पहुँची। शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी अर्धमागधी, पैशाची आदि इसके अनेक भेद हैं। इसमें भी बहुत से साहित्य के ग्रन्थ बने। गुणाढ्य कवि का आर्याबद्ध लक्ष श्लोक का ग्रन्थ बृहत्कथा प्राकृत ही में है। सिवा इसके शालिवाहन-सप्तशती आदि कई एक उत्तम प्राकृत के ग्रन्थ और भी मिलते हैं। नन्द और चन्द्रगुप्त के समय इस भाषा की बड़ी उन्नति हो गई। जैनियों के सब ग्रन्थ प्राकृत ही में हैं; उनके स्तोत्र पाठ आदि भी सब इसी में हैं। इससे मालूम होता है कि प्राकृत किसी समय वेद की भाषा के समान पवित्र समझी गई थी।

संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा इस समय न रह गई थी, पर हर एक विषय के ग्रन्थ इसमें एक से एक बढ़-चढ़ कर बनते गए। और साहित्य

की तो यहाँ तक तरक्की हुई कि कालिदास आदि कवियों की उक्ति-युक्ति के मुकाबले वेद का भद्दा और रूखा साहित्य अत्यन्त फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, माघ की एक एक छटा पर वेद के उम्दा से उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने सरपच साहित्य की बड़ी भारी कारीगरी दिखलाई है, न्योछावर है। संस्कृत के साहित्य के लिये विक्रमादित्य का समय "आगस्टन पीरियड" कहलाता है अर्थात् उस समय संस्कृत, जहाँ तक उसके लिए परिष्कृत होना सम्भव था, अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच गई थी। यद्यपि भारवि, माघ, मयूर, प्रभृति कई एक उत्तम कवि धाराधिपति भोजराज के समय तक और उनके उपरान्त भी जगन्नाथ पंडितराज तक बराबर होते ही गए; किन्तु संस्कृत के परिष्कृत होने की सामग्री उस समय तक पूरी हो चुकी थी। भोज का समय तो यहाँ तक कविता की उन्नति का था कि एक एक श्लोक के लिए असंख्य इनाम कवियों को राजा भोज देते थे। वेद का साहित्य उस समय यहाँ तक दब गया था कि छांदस मूर्ख की पदवी रक्खी गई थी। केवल पाठ मात्र वेद जानने वाले छांदस कहलाते थे और वे अब तक भी निरे मूर्ख होते आये हैं।

बौद्धों के उच्छेद के उपरान्त एक जमाना पुराण के साहित्य का भी हिन्दुस्तान में हुआ। उस समय बहुत से पुराण, उपपुराण और संहिताएँ दो ही चार सौ वर्ष के हेर फेर में रची गईं। अब हम लोगों में जो धर्मशिक्षा, समाजशिक्षा और रीति नीति प्रचलित है, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं है। थोड़े से ऐसे लोग हैं, जो अपने को स्मार्त मानते हैं। उनमें तो अलबत्ता अधिकांश वेदोक्त कर्म का यत्किञ्चित् प्रचार पाया जाता है, सो भी केवल नाम मात्र को; पुराण उसमें भी बीच बीच आ घुसा है। हमारी विद्यमान् छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हजार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है। जब तक वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में जरा भी अन्तर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद

के समय की बहुत सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी हम घिना उठते हैं, और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके सबब से अपने अहिंसा धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराण-कर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्विक धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मत मतान्तरों का प्रचार भी पुराणों ही की करतूत है। पुराण वाले तो पंचायतन-पूजन ही तक से संतोष करके रह गये। तंत्रों ने बड़ा संहार किया उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता—भैरव, काली डाकिनी, शाकिनी भूत प्रेत तक की पूजा को फैला दिया। मद्य मांस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बलवीर्य की पुष्टता से, जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित ही रहे। निस्संदेह तांत्रिकों की कृपा न होती, तो हिन्दुस्तान ऐसा जल्द न डूबता। वेद के अधिकारी शुद्ध ब्राह्मण के लिये तान्त्रिक दीक्षा या तंत्र मंत्र आदि निषिद्ध हैं। ब्राह्मण तंत्र के पठन-पाठन से बहुत जल्द पतित हो सकता है, यह जो किसी स्मृतिकार का मत है, हमें भी कुछ कुछ संयुक्तिक मालूम होता है। बहुत से पुराण तन्त्रों के बाद बने! उनमें भी तान्त्रिकों का सिद्धान्त पुष्ट किया गया है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि हिन्दू जाति में कौमियत छिन्न होने का सूत्रपात पुराणों के द्वारा हुआ। और तंत्रों ने उसे बहुत पुष्ट किया। शैव, शाक्त वैष्णव, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक जुदे जुदे फिरके होगए जिनमें इतना दृढ़ विरोध कायम हुआ कि एक दूसरे के मुँह देखने के रवादार न हुए; तब परस्पर का एका और सहानुभूति कहाँ रही। जब समस्त हिन्दू जाति की एक वैदिक सम्प्रदाय न रही, तो वही मसल चरितार्थ हुई कि "एक नारि जब दो से फँसी; जैसे सत्तर वैसे असी।" हमारी एक हिन्दू जाति के असंख्य टुकड़े होते होते यहाँ तक खण्ड हुये कि अब तक नये नये धर्म और मतप्रवर्तक होते ही जाते हैं। ये टुकड़े जितने वैष्णवों में अधिक हैं, उतने शैव शाक्तों में नहीं, और आपस में एक का दूसरे के साथ मेल और खान पान जितना कम इनमें है उतना औरों में नहीं। राम के उपासक कृष्ण के उपासक से लड़ते हैं, कृष्ण के

उपासक रामोपासकों से इत्तिफ़ाक नहीं रखते। कृष्णोपासकों में भी सत्यानाशिन अन्यान्यता ऐसी आड़े आई है कि यह इनके आपस ही में बड़ा खटपट लगाये रहती है।

प्राकृत के उपरान्त हमारे देश के साहित्य के दो नमूने और मिलते हैं, एक पद्मावत और दूसरा पृथ्वीराज रायसा। पद्मावत की कविता में तो किसी कदर कुछ थोड़ा सा रस है भी; पर पृथ्वीराज-रायसा में तारीफ़ के लायक कौन सी बात है—यह हमारी समझ में बिलकुल नहीं आता। प्राकृत से उतरते उतरते हमारी विद्यमान हिन्दी इस शकल में कैसे आई इस बात का पता अलबत्ता रायसा से लगता है। मत-मतान्तर के साथ ही साथ हमारी भाषा भी गुजराती, मरहठी, बंगाली इत्यादि के भेद से प्रत्येक प्रान्त की जुदी जुदी भाषा हो गई। इन देशी भाषाओं में बंगाली सब से अधिक कोमल और सरस है; मरहठी महा कठोर और कर्णकटु; तथा पंजाबी निहायत भद्दी, कठोर और रूखापन में उर्दू की छोटी बहन है।

अब अपनी हिन्दी की ओर आइये। इसमें सन्देह नहीं, विस्तार में हिन्दी अपनी बहनों में सब से बड़ी है। ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, बैसवारे की तथा भोजपुरी इत्यादि इसके कई एक अवान्तर भेद हैं। ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी ज़नानी बोली है कि इसमें केवल शृङ्गार के दूसरा रस आ ही नहीं सकता। जिस बोली को कवियों ने अपने लिये चुन रक्खा है, वह बुन्देलखंड की बोली है। इसमें सब प्रकार के काव्य और सब रस समा सकते हैं। अपनी अपनी पसन्द निराली होती है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः।" हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सब से अधिक भली मालूम होती है। दूसरी भाषाएं जैसे मरहठी, गुजराती, बंगला की अपेक्षा कविता के अंश में हिन्दी का साहित्य बहुत चढ़ा हुआ है तथा संस्कृत से कुछ ही न्यून है। किन्तु गद्य-रचना "प्रोज़" हिन्दी का बहुत कम और पोच है। सिवा एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भाण्डार में शामिल करते हैं। दूसरी उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही

नहीं। प्रसंग-प्राप्त अब हमें यहाँ उर्दू के साहित्य की समालोचना का भी अवसर प्राप्त हुआ है; किन्तु यह विषय अत्यन्त ऊब पैदा करने वाला हो गया है, इससे इसे यहीं पर समाप्त करते हैं। उर्दू की समालोचना फिर कभी करेंगे।

शिव-मूर्ति

[ले० पं० प्रतापनारायणमिश्र]

हमारे ग्राम-देव भगवान् भूतनाथ से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिंत्य हैं। तौ भी उनके भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम दृष्टि से अपने हृदय मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता तौभी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांतिकारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में लेके सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलनेवाला हाँथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खम्भे के समान कहेंगे। यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खम्भे के। पर कहने वालों की बात झूठी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात् कर लें तो

वह अनन्त कैसे और यदि निरा अनंत मान के अपने मन और बचन को उनकी ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ! सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शान्ति लाभ करेंगे !

उनके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर, संसार, परमार्थ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषयमें कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावें। जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है ! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलङ्क लगाते हैं। माता कह के बेचारे जनक को दोषी ठहराते हैं; साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कहके अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचारशक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं तथा आप लाभ कारक बातों को समझ के दूसरे को समझाते हैं ! प्रिय पाठक ! उसकी सभी बातें अनन्त हैं तो मूर्तियाँ भी अनन्त प्रकार से बन सकती हैं और एक एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी की छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के

अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपने नियम पालने से काम। हम चाहे मरें या जियें रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वर सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए नहीं हाथ आती। वह बड़े ही अमीर को साध्य है वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान छोड़ दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर-प्राप्ति में कुछ काम नहीं। यह निर्धन के धन हैं। 'हुनरमन्दों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में सब ईश्वर में उत्पन्न हैं, ईश्वर में ही लय होते हैं इस बात से दृष्टान्त मट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है हृदय मन्दिर की कुवासनारूपी दुर्गन्ध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि कारक 'सुगन्धं पुष्टिवर्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ट मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुण मय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी का और है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुरागदेव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का रंग यही है, इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। ऐसे प्रेम-देव सब से पक्के

हैं उन पर और का रंग क्या चढ़ेगा ? इसके सिवा बाह्य जगत् के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी में लिखी जाती हैं। फिर कहिये जिससे भीतर-बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें ?

हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुन्दर व्यक्ति की आँखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भर की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परमसुन्दर का कौन रंग कल्पना करोगे ? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं ? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रंग है ? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे ? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है ? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की, सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें ? रामचन्द्र, कृष्णचन्द्रादि को यदि अंग्रेज़ ज़माने वाले ईश्वर न माने तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिवमूर्ति लिंगाकार होती है जिसमें हाथ, पाँव, मुँह कुछ नहीं होते। सब मूर्ति पूजक कह देंगे कि हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा के लिये एक संकेत चिह्न मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर निकली है, क्योंकि लिङ्ग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है। सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक ठीक मूर्ति

क्या ? आनन्द की कैसी मूर्ति ? दुःख की कैसी मूर्ति ? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन !! बस ! ठीक शिव मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व अचिन्त्यत्व, अप्रतिमित्व कई एक बातें लिङ्गाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई वर्णन नहीं कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिन्ह भी हमने गोलमाल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिलिङ्ग ही से होगी, क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है ? पर यदि कोई मोटी बुद्धिवाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है ? तात्पर्य यह कि कुछ है, और कुछ नहीं। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कहीं जा सकें और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भाँति शिवलिङ्ग भी समझ लीजिये वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन बुद्धि और वाणी से जितना सोचा, समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्री गणेशायनमः हुआ है। इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में ढूंढो पर विश्वास में। इसलिये हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ, पांव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसीही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आसपास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नकशा खींचेंगे क्योंकि उनके यहाँ श्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े बड़े बादशाह ख़ाक में दबे हुए सोते हैं। यदि कबर का तख़्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकंदर की हड्डी है या दारा की। इत्यादि। हमारे यहाँ

उक्त विषय में श्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्यधर्मियों के आने से पहले यहाँ कब्रों की चाल ही न थी। योरप में खूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहाँ ताम्रवर्ण सौंदर्य का रंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सो सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बायाँ हाथ इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट फेर की बातें कही जाँय पर इनका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है, तो उसका भी रूप हमारे ही रूपों का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं, जैसों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई,-बन्धु राजा गुरु जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा। बस, इसी मत पर सावयव सब मूर्तिं मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक हैं। जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये भय जनक है। अथच हम उनकी मंगलमयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिव-मूर्ति में कई एक विशेषतायें हैं। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिह्न होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और पारमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान् सदाशिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति कल्पना में जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परम

वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे विष्णु भगवान् को परम शैव लिखा है कि विष्णु भगवान् नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदाशिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार करके कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र-कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे ऐसे संदेह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हां, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान् विष्णु की शैवता और भगवान् शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय ये दोनों एक प्रेम स्वरूप के नाम हैं। पर उनका वर्णन पूर्णतया असंभव है अतः कुछ कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिये गए हैं जिसमें कवियों की वचन शक्ति के लिये आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान् गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान् भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड़ दीजिये। नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गंगा जी परमशक्ति हैं। इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। हमारी समझ में तो आस्तिक-मात्र को किसी से द्वेष बुद्धि रखना पाप है। क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव समाज का वैष्णवों और शाक्त लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो महामैत्री से परस्पर रहना चाहिये। शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं। इससे जितने बुद्धिमान् जितना

विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं इसलिए हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकोंपर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेममयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेदों द्वारा बड़ी हद तक चार फल (धर्म्मार्थ, काम, मोक्ष) पा जायगे, पर उनके पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये हैं।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े ऋषि मुनि नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं उनका वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के बाद कैलास-वास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है न किसी देखने वाले से वार्तालाप अथवा पत्र व्यवहार किया है। यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा! हे विश्वनाथ! हमारे हृदय-मन्दिर को कभी कैलाश बनाओगे! कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जाँय और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय! जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि-निर्मितमूर्तियों का, रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है।

कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेमगंगा है। उसी के जल में स्नान करने का माहात्म्य है हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान् पदार्थ शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण के रूप के हैं। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे का नाम होता, विपत्ति काल में निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु मृत्तिका का कहना ही क्या है ? स्वयं तुच्छ पदार्थ हैं, केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर है, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा ? जब चाहो आँखें मूँद कर अन्धे की नकल कर देखो। अन्धकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ मुँह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग में गर्मी चढ़ जायगी। खैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है ? जहां तक सुहृदयता से विचार कीजिये वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेम की बहन हैं। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्मशब्द ही नपुंसक है और हृदयमन्दिर में प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

हिन्दी भाषा का विकास

[ले॰ उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन"]

कहते हैं कि आरम्भ में जब उस त्रिगुणातीत त्रिकालज्ञ परब्रह्म परमेश्वर ने इस जगत की सृष्टि करनी विचारी, तब प्रथम ही उसकी आदि शक्ति ने शब्द की सृष्टि की। वह शब्द प्रणव था, जिसमें न केवल तीन मात्रा व अक्षर वरञ्च त्रिगुणमयी माया, त्रिवेद और त्रिशक्ति, यों ही त्रिलोक की सारी सामग्री बीज रूप से अन्तर्हित थी। उसी बीज से क्रमशः समस्त वर्ण शब्द और तीनों वेद उत्पन्न हुए। प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने के कारण उसकी समस्त सृष्टि भी त्रिगुणमयी हुई। सुतरां चेतन सृष्टि के उत्तमांश प्राणियों में भी उन तीन गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुसार स्वतः देवता मनुष्य और असुर तीनों का विस्तार हुआ।

भाषा की वैसी ही दशा हुई। जैसे एक ही प्रकृति ने तीन भागों में विभक्त हो न्यूनाधिक गुणों के कारण एक ही जाति के प्राणियों को मन, कर्म और स्वभाव के अनुसार देवता, मानव और असुर बनाया, उसी प्रकार स्वभाव से उत्पन्न उस एक ही ब्राह्मी व देववाणी अथवा वेदभाषा को उन तीनों की प्रकृति और उच्चारण ने क्रमशः तीन रूप दिये। मानों मूलभाषा त्रिपथगा की तीन धारा हो बही। अर्थात् पहिली देववाणी जो देवता और विज्ञ जनों में अपने यथार्थ रूप में स्थित रही, दूसरी जो सामान्य मनुष्यों से यथार्थ न उच्चारित होकर अशुद्ध रूप धारण कर चली और तीसरी असुरों से विशेष विकृत और विपरीत होकर विस्तारित हुई। पहिली का नाम देववाणी वा वैदिकभाषा हुआ, जो क्रमशः विद्वानों द्वारा संस्कृत हो अन्त को संस्कृत कहलाई। दूसरी वैदिक अपभ्रंश अथवा मूल प्राकृत। यों ही तीसरी आसुरी, राक्षसी वा पैशाची कि जिसकी अति अधिक वृद्धि हुई और जिसकी शाखाएं आर्य्यावर्त्त की सीमाओं को लांघ कर दूर दूर तक पहुँच बहुत विकृत हो क्रमशः मूल से सर्वथा विलक्षण हो गई। इस कारण आर्य्यजाति से पूर्वोक्त केवल दो ही भाषाओं से सम्बन्ध बच रहा—अर्थात् देववाणी और नरवाणी अथवा देवभाषा और

उसके अपभ्रंश लोकभाषा से। वैदिक साहित्य में यथास्थान इन तीनों की मूल भाषाओं का अस्तित्व पाया जाता है, जैसे कि संस्कृत के नाटकों में प्राकृत का।

जानना चाहिये कि सृष्टि वा कल्पारम्भ में मानवसृष्टि के साथ जब ईश्वरीय वाक्शक्ति अर्थात् वाणी व सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ तो स्वभाव ही से दिव्य प्रतिभावान व्यक्तियों के उच्चारण से स्वयं ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई और दिव्यसंस्कारसम्पन्न लोगों से अकस्मात् उसी अर्थ में समझी जाने लगी। यों क्रमशः कुछ वाक्यबीजों ही के द्वारा शब्दशस्य की वृद्धि हुई और वेद का प्रादुर्भाव मुख्य मुख्य महर्षियों द्वारा हो चला। मानो अनादि वेद उसके ज्ञान का पुनः प्रकाश का क्रम चला। बहुतेरों के चित्त में यह आशङ्का होगी कि भाषा की सृष्टि भी क्या अकस्मात् हो सकती है? और वेद क्या ईश्वर ने बनाये हैं? किन्तु ऐसी आशङ्काओं का अन्त नहीं है और न वे नई हैं। कितनों को सब के मूल जगत् की सृष्टि और स्रष्टा ही में संदेह है। हमारे यहाँ भी ब्रह्म माया, जीव, जगत्, वेद और शब्द सबको अनादि मान कर भी इनका भाव और तिरोभाव माना है। ईश्वर के विषय में भी आरम्भ से अद्यावधि असंख्य की आशङ्का है। यह विषय ही अत्यन्त उच्च और गूढ़ातिगूढ़ है, जो बिना आध्यात्मिक शक्ति के समझाई नहीं देता और न हम से सामान्य जनों को इसमें जिह्वाप्रक्षालन का अधिकार ही है। अस्तु आस्तिकों का अपने धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह विश्वास अन्यथा नहीं कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने वेदों के द्वारा मनुष्यों को ज्ञान और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का आदेश किया। कहीं उसे इन्द्र, ब्रह्मा वा कई देवताओं और ऋषियों के द्वारा आविर्भूत मानते, किन्तु कर्ता नहीं। आज भी बहुतेरे कारीगर चित्रकार और कवि अपने हाथ की कारीगरी करके भी उसे देख महर्षि वाल्मीकि जी की भांति स्वयं विमोहित हो आश्चर्य करके मान लेते कि यह संयोगात् हमारे हाथों बन गई है, हम में इतनी योग्यता कदापि नहीं है। इसीसे हमारे देशबासी उच्चकोटि की कविताओं में भी सरस्वती देवी की कृपा मानते हैं। यों ही किसी गुप्त शक्ति की प्रेरणा अनेक स्थलों पर स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि जिह्वा रहते भी लोग नहीं

बोल सकते। बोलने की शक्ति कुछ और ही है कविता की कुछ और तथा विशेष चमत्कृत रचना की और है। अस्तु ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना के अधिक आश्चर्यदायक रचना वेद की है। और इसमें तो सन्देह किसी को भी नहीं है कि वेद से प्राचीन साहित्य आज लभ्य नहीं है।

अवश्य ही भारत में नवीन युग का आरम्भ हुआ है। नये अन्वेषण और आविष्कार के ये दिन हैं। नित्य नये नये सिद्धान्त स्थिर हो रहे हैं। सात समुद्र पार, सहस्रों कोस की दूरी पर बैठे पश्चिमीय विद्वान् आज हमारे प्राचीन साहित्य की मनमानी समालोचना कर रहे हैं। वे ऐतिहासिक जाँच की ओट में हमारी सभ्यता, आचारविचार और धर्म पर भी चोट चलाते हैं। कहीं कहीं अनुमान और अटकल के सहारे ऐसी ऐसी अनोखी बातें बतला चलते हैं कि जिनसे भारत का कायापलट अथवा आर्य्यगौरव सर्वस्व का वारा-न्यारा होना सहज सुलभ हैं। जो यद्यपि सचमुच स्वाभाविक होते हुये भी कितनों ही को भ्रमोत्पन्नकारी है। अब यह कौन कह सकता है कि भारत के आप्त महामहिम महर्षि और परम प्रतिभावान् एक से एक उत्कट प्राचीन पण्डितों द्वारा निश्चित हमारे शास्त्रों के परम्पराप्राप्त अर्थों और सिद्धान्तों के विरुद्ध उन विदेशियों के अनुमान और प्रमाण बावन तोले पाव रत्ती सटीक और सच्चे ही हैं? अथवा कहीं से कुछ भी उनमें असावधानी वा आग्रह का लेश नहीं है? ग्रन्थ एक ही है, जिससे हमारे देशी और विदेशी विद्वान् भिन्न भिन्न अभिप्राय निकाल लेते हैं। एक ही मुकद्दमे की मिसिल से दोनों पक्ष के वकील दो प्रकार का प्रमाण संग्रह करते और परिणाम निकालते हैं। जननी और विमाता दोनों लड़के को पालतीं, पर उन दोनों के पालन में भेद होता है। जैसे इन दिनों जब तक कि रजिस्ट्री न हो जाय सच्चे से सच्चा दस्तावेज भी प्रामाणिक नहीं माना जाता वैसे ही जब तक कोई पश्चिमीय विद्वान् स्वीकार न कर ले, कोई प्रमाण प्रमाणित नहीं कहा जाता। प्रमाणित न माना जाय, अदालत डिग्री न दे, तो भी क्या वह सच्चा दस्तावेज वास्तव में झूठा है? एक दिन भारत ही से विद्या विज्ञान और सभ्यता सारे संसार में फैली थी। आज पश्चिम से ज्ञानसूर्य का प्रकाश हुआ है और निःसन्देह अब

मानो पश्चिम उसका सब ऋण चुका चला है। आज वहीं की विद्या और विज्ञान से भारत की आँखें खुली हैं। हमारे देश के लोग अब तक अवश्य ही अविद्या के अन्धकार में सो रहे थे। उनके अनेक अटपटे आक्षेपों का प्रतिवाद कौन करता ? अब उनके द्वारा ये भी जगे और उनके सम्मति स्वर्ण को निज विचार की कसौटी पर कस चले हैं। आशा है कि कुछ दिनों में बहुतेरे विवादग्रस्त विषय उभय पक्ष से सिद्धान्त रूप से स्वीकृत हो जायँगे। यद्यपि अनेक भारत सन्तान आज उन्हीं के सुर में सुर मिलायें वही राग अलाप रहे हैं। किन्तु वे क्या करें जब कि उन्हीं की टेकनी के सहारे वे चल सकते हैं। तो भी सदा यही दिन न रहेगा। सदैव हमारे भाई औरों ही की पकाई खिचड़ी खाकर न सराहेंगे। वरञ्च वे भी शीघ्र ही पूर्वी और पश्चिमी उभय विज्ञानचक्षु को समान भाव से खोलेंगे, आलस्य छोड़कर अपने अमूल्य रत्नों को टटोलेंगे और खरे-खोटे की परख कर स्वयं अपने सच्चे सिद्धान्त स्थिर कर लेंगे।

अभी कल की बात है कि हमारे देश के गौरव स्वरूप ब्राह्मणकुल-तिलक पण्डितवर बाल गंगाधर तिलक ने अपने विलक्षण विद्यावैभव और प्रतिभा से आर्य्यों के आदि निवास स्थान योंही वैदिक साहित्य की प्राचीनता —जिसे पश्चिमीय विद्वान् चार सहस्र वर्ष से अधिक नहीं मानते थे, उससे आठ सहस्र वर्ष सिद्ध कर दिया है। योंही अन्य अनेक ऐसे अमूल्य सिद्धांत वेदों से आविष्कृत और प्रकाशित किये, जिसे सुन वे चौकन्ने हो गये। कई बार आगे भी भारत पर अज्ञानान्धकार और विपरीत विचार का अधिकार हो चुका है। किन्तु फिर यथार्थ ज्ञानसूर्योदय ने उसे छिन्न भिन्न कर दिया है। जब तक वह दिन न आ जाय, हमें धैर्य धारण पूर्वक अपने सहस्रों वर्षों के चले आते सच्चे सिद्धान्त और विश्वास से टसकना न चाहिये। आप लोग क्षमा करें कि मैं प्रकृत विषय से बह कर व्यर्थ बहुत दूर जा पहुँचा।

निदान देववाणी क्रमशः व्याकरण और साहित्य के विविध अंग प्रत्यंगों से युक्त हो इतनी उन्नत अवस्था को पहुँची कि आज भी संसार की भाषाएँ अनेक अंशों में उससे आगे सिर झुका रही हैं। आरम्भ में यही यही

की सामान्य भाषा वा राष्ट्रभाषा थी। फिर राजभाषा अथवा नागरी भाषा हुई। क्योंकि क्रमशः व्याकरण के नियमों से वह ऐसी जकड़ दी गई कि केवल पढ़े लिखे लोगों से बोली और समझी जाने योग्य रह गई, जिसके पढ़ने के अर्थ मनुष्य की आयु भी पर्य्याप्त नहीं समझी जाती थी मानो वह उन्नति की चरमसीमा को पहुँच गई। इसीसे उसकी शिक्षा के अर्थ उस दूसरी लोकभाषा को भी सुधारने और नियमबद्ध करने की आवश्यकता आ पड़ी। वह भाषा वैदिक अपभ्रंश वा मूल प्राकृत थी, जो बुधजन और विद्वानों से क्रमशः परिमार्जित होकर आर्ष प्राकृत कहलाई। मानो तभी से सेकेण्ड लैंग-वेज (Second Language) का सूत्रपात हो चला।

बहुतेरों का मत है कि प्राकृत ही से संस्कृत की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि वेदों में भी गाथा रूप से इसका अस्तित्व पाया जाता है और संस्कृत नाम ही मानों इसका साक्षी देता है। परन्तु यह केवल भ्रम है, जो प्राकृत व्याकरणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा दूर हो जाता है। क्योंकि वे सदैव संस्कृत ही का अनुकरण करते, संस्कृत ही से प्राकृत बनाने की विधि का विधान बतलाते और प्रायः देववाणी वा संस्कृत ही से उसकी सृष्टि की सूचना देते हैं। सारांश, संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं।

निदान इस प्रकार वह परिमार्जित वैदिक अपभ्रंश भाषा वा आर्ष प्राकृत, जिसकी क्रमशः अनेक शाखा प्रशाखायें होती गईं, संस्कृत के प्रचार की न्यूनता के संग राष्ट्रभाषा बन चली और इस देश के चारो ओर विशेष विस्तृत हो प्रान्तिक प्राकृतों से मिलती-जुलती वही अन्त को महाराष्ट्री प्राकृत भी कहलाई। उस समय तक केवल पवित्र वैदिक धर्म्म ही की धूम थी। गुरुकुल, परिषद् और पाठालयों में वेदध्वनि की गुञ्जार और सत् शास्त्रों का अध्ययनाध्यापन होता रहा। चारोवर्ण और आश्रम अपने अपने धर्म्म पर स्थित थे। सुख स्वास्थ्य और आनन्द उत्सव का आश्रम यही देश बन रहा था।

पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे सब।
दुरभागनि सों इत फैले फल फूट बैर जब॥

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भयो वीरवर सकल सुभट एकहि संग गारत॥
मरे बिबुध नरनाह सकल चातुर गुन मण्डित।
बिगरो जन समुदाय बिना पथ दर्शक पण्डित॥
सत्य धर्म के नसत गयो बल बिक्रम साहस।
विद्या बुद्धि विवेक विचाराचार रह्यो जस॥
नये नये मत चले, नये झगरे नित बाढ़े।
नये नये दुख परे सीस भारत पै गाढ़े॥

यही ब्राह्मणों की अदूरदर्शिता थी कि उन्होंने पिछले कांटे लोकभाषा में धर्म की शिक्षा का क्रम नहीं चलाया था, जिस कारण सत्यधर्माचार शिथिल हो गया और नाना प्रकार के अनाचारों का प्रचार हो चला था, जिसके संशोधन के अर्थ लोग उद्यत हुए। नये नये प्रकार के धर्म और आचार-विचार की शिक्षा सुनकर अपने धर्म से अनिभिज्ञ जन अचानक बहक चले।

बौद्ध धर्म के डंके बजने लगे। संस्कृत का पठनपाठन छूटा। प्राकृत के दिन लौटे। वह राष्ट्र और राजभाषा को छोड़ कर धर्म की भी भाषा बन चली। आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री अब मागधी और पाली बन भाषाओं की मा कहलाने का दावा कर चली। महाराज प्रियदर्शी अशोक के प्रताप के संग यह भी दूर दूर तक अपना अधिकार जमा चली, क्योंकि जब बुद्धदेव प्रकट हुए, प्रचलित देशभाषा ही में वे अपना उपदेश कर चले। संस्कृत में उपदेश का होना भी कठिन था। राजा का सहारा पाकर बौद्ध मत सारे भारत में व्याप्त हो गया। जैन धर्म के घन भी घुमड़कर घिर रहे थे। ब्राह्मणों के लाले पड़ रहे थे। जैसे आज उर्दू के प्रबल अधिकार से हिन्दी कोनों में दबक दुबक कर छिपी जीवन धारण कर रही है, संस्कृत भी प्राकृत से दबी छिपी अपनी प्राणरक्षा कर रही थी। तो भी सनातन धर्म के सभी ग्रंथ संस्कृत ही में होने के कारण नवीन धर्मावलम्बी जन, प्राचीन धर्म के खण्डन और स्वमतमण्डन के अभिप्राय से उदारजन साहित्य-परिज्ञान और उसके अनुयायी धर्मज्ञानार्थ उसे कुछ न कुछ सीखते-समझते ही रहे।

निदान उस देववाणी वा वेदभाषा त्रिपथगा की इहलौकिक धारा वैदिक अपभ्रंश-गङ्गोत्तरी से जो आर्ष प्राकृत नाम्नी गङ्गा बही तो जैसे सुरसरिता क्रमशः अनेक नाम और रूप धारण करती कोड़ियों नदीनद को अपने में लीन करती; भारत भूमि के प्रधान भागों को उपजाऊ बनाती, सैकड़ों में बँटकर समुद्र से जा मिली और जैसे गङ्गोत्तरी से चलकर प्रयाग तक जाह्नवी अपनी श्वेत धारा और सुधास्वादु सलिल के रूप और गुण को स्थिर रख सकी, किन्तु यमुना से मिलकर वर्ण में श्यामता और गुण में वातुलता ला चली उसी प्रकार आर्ष प्राकृत भी हिमालय से लेकर कुरुक्षेत्र तक आते अपने रूप और गुण को स्थिर रख सकी। इसके पीछे जनपदविस्तारक्रम के अनुसार इसके रंग, रूप और गुणों में भेद हो चला। तो भी भागीरथी के तुल्य उसकी प्रधान शाखा महाराष्ट्री की प्रधानता आरम्भ से अवसान तक बनी रही। महाराष्ट्री शब्द से प्रयोजन दक्षिण देश से नहीं है; किन्तु भारतरूपी महाराष्ट्र से है। देश विशेष की भाषाएँ इसकी शाखा स्वरूप दूसरी दूसरी ही हैं। जैसे कि—शौरसेनी, आवन्ती, मागधी आदि। विश्वनाथ कविराज ने बहुतेरी भाषाओं के नाम बतलाये हैं, जिनमें अधिकांश प्रायः प्रधान प्राकृत ही के भेद हैं और जिनकी सन्तति आज भारत की प्रचलित समग्र प्रान्तिक भाषाएँ हैं। यथा—पंजाबी, गुजराती, मराठी, बँगला इत्यादि।

निदान हमारी भारतभारती की शैशवावस्था का रूप ब्राह्मी वा देव-वाणी है। उसकी किशोरावस्था वैदिक भाषा और संस्कृत उसकी यौवनावस्था की सुन्दर मनोहर छटा है। उसकी प्रथम पुत्री भाषा या प्रधान प्राकृत की वैदिक अपभ्रंश भाषा शैशवावस्था, आर्ष प्राकृत किशोरावस्था, और महाराष्ट्री तथा प्रान्तिक प्राकृतें यौवनावस्था हैं। उसकी दूसरी पुत्री या शाखा पैशाची वा आसुरी की अनेक और अनेक शाखाएँ फैलीं। जैसे पश्चिमों की क्रमशः पुरानी पारसी पहलवी वा वर्तमान फ़ारसी और पश्तो आदि हैं, जिनसे यहाँ हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। प्रान्तिक प्राकृतों की भी अनेक शाखाएँ फैलीं, जिनसे वर्तमान प्रचलित भाषाओं की उत्पत्ति है। उनका प्रथम रूप प्रान्तिक प्राकृत, दूसरा उनके अपभ्रंश और तीसरा वर्तमान भाषाएँ हैं जैसा कि हमारी भाषा

का आदि रूप शौरसेनी वा अर्द्ध मागधी, तो दूसरा नागर अपभ्रंश और तीसरा प्राचीन भाषा है। औरों से यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है। इसी से हम केवल अपनी ही भाषा के रूपों और अवस्थाओं का क्रम कहते हैं। अर्थात्—

वर्त्तमान हमारी भाषा का प्रथम रूप वा उसकी शैशवावस्था पुरानी भाषा अर्थात् प्राकृत अपभ्रंश मिश्रित भाषा है। जिसकी झलक आज चन्द-बरदाई के पृथ्वीराजरासो में पाई जाती है। उसकी यौवनावस्था का दूसरा रूप भाषा वा ब्रजभाषा अथवा मिश्रित भाषा है। जिसका दर्शन कबीर, सूर, केशव खुसरो, जायसी, तुलसी, बिहारी और देव, द्विजदेव आदि की कविताओं में हम पाते हैं। किशोरावस्था और क्रमशः उसकी नवयौवनावस्था भी कहें, तो कुछ हानि नहीं। तीसरी अवस्था इसका वर्त्तमान रूप है जिसके पद्य के कवियों में नेवस्वामी, बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्तव्यास, श्रीनिवासदास, और श्रीधर पाठक आदि, योंही गद्य के लल्लूजीलाल, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु और वर्तमान समय के अन्य सुलेखक हैं। जिसे उसकी पूर्ण यौवनावस्था वा प्रौढ़ावस्था भी कह सकते हैं।

ऊपर लिखे क्रम के अनुसार अब हमारी भाषा, भारतभारती के अंकुर से क्रमशः उन्नत होती, अनेक अवस्थाओं के भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तित होती, मानो भाषावृक्ष का मुख्य स्तम्भस्वरूप है। अन्य सब प्रान्तिक भाषाएँ जिसकी शाखाएँ हैं, जिनमें कोई पुष्ट और कोई पतली, कोई दीर्घ और कोई लघु है। सारांश, हमारी भाषा का क्रम आरम्भ से अन्त तक एक प्रकार मूल से अब तक लगा चला आ रहा है और इसकी प्रधानता अद्यापि वर्तमान है। जितना इसका विस्तार और प्रचार है, औरों का नहीं है। क्योंकि यह मुख्य या मध्यदेश की भाषा है। जहाँ सदैव साधु वा नागरी भाषा का प्रचार रहा और जहाँ से मूल भाषा-निकास प्रचरित होता हुआ अन्य प्रान्तों में जाकर अपने स्वरूपों को विशेष परिवर्तित करता रहा है। जैसे खान से निकल कर रत्न दूर दूर पहुँच कर सुधारे और सँवारे

जाकर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं। इसी से भगवान् मनु आज्ञा करते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

हमारा यह मध्यदेश मानों भगवती भारती के परिभ्रमण का प्रधान पुष्पोद्यान है। उसमें भी यह ग्रेण्डट्रङ्क रोड मानो भाषा भारत की भी ग्रेण्डट्रङ्क रोड है, जो सदा देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक निरन्तर चलती रही है। भारत के प्रधान तीर्थयात्रियों की भाँति भाषा का भी कोई पथिक ऐसा नहीं कि जिससे इसका परिचय न हुआ हो। अन्य सब उपभाषा रूपी सड़कें सदा इसकी शाखा वा सहायक स्वरूप रही हैं और इसका सम्बन्ध सदा इसके साथ समान रूप से रहा है। सबसे इससे थोड़ा बहुत अब भी व्यवहार बना हुआ है।

हमारी मातृभाषा का परंपरागत यथार्थ नाम भाषा ही है ठीक जैसे कि अनादि काल से चले आते हमारे धर्म का नाम धर्म है। अन्य जितने धर्म हैं सब की एक एक संज्ञा विशेष है जैसे बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, अनेक पन्थी, वा मुसलमान खृस्तान आदि। आजकल जब बहुत विभेद बढ़ा, तो निज समूह के समान प्रतिद्वन्द्वियों के सम्मुख कुछ लोग उसे सनातन धर्म कहते हैं, परन्तु वह भी समूह वाची सा होगया है। ऐसे ही भाषा शब्द भी उसी सनातनधर्म के तुल्य है। पहिले देववाणी भी केवल भाषा ही कहलाती थी। जब वह सामान्य जनों की भाषा न रही, वरञ्च प्रधान भाषा प्राकृत हुई, तो उसका नाम देववाणी, वैदिक भाषा और संस्कृत हुआ और यह भाषा ही कहलाती रही। जब इसके भी भेद हो चले और प्रान्तिक भाषाएँ नये-नये रूप बदल कर नवीन नामों को धारण कर चलीं, तो वह आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री योंही भिन्न भिन्न प्रान्तों के नामों से प्रान्तिक पुकारी जाने लगीं। किन्तु हमारे मध्यदेश की प्रधान भाषा भाषा ही कहलाती रही, जिसके पश्चिमी ओर पर शौरसेनी, पूर्वी सीमा पर मागधी का अधिकार था। योंही दक्षिण में आवन्ती दाक्षिणात्या और उत्तर में उदीची का प्रचार था। बीच के पूर्वी भाग की भाषा को अर्द्ध मागधी भी पुकारते थे। यों ही पश्चिमी को

अर्द्ध शौरसेन वा नागर। परन्तु ये सब विशेषण उन्हीं भाषाओं के प्रचार के साथ हुए जैसे कि आज ब्रजभाषा, मिश्रित भाषा, हिन्दी, नागरी, खड़ी बोली अथवा उसके अनेक भेद, जो बहुधा आज केवल विभेद बढ़ाने ही के लिये बढ़ाकर कहे जाते हैं। क्योंकि स्थानिक बोलियाँ भाषा नहीं कहलायेंगी, भाषा वही है कि जिसमें उन सब स्थानों वा प्रान्तों के सभ्यजन आपस में मिलकर एक दूसरे से बातें करते हों, वा जिसका कोई पृथक साहित्य हो। यों तो इस महादेश की बोलियों के सम्बन्ध में यह कहावत है कि—"दस बिगहा पर पानी बदलै, दस कोसै पर बानी।"

अस्तु। हमारी भाषा और सब प्रान्तिक भाषाओं से प्रधान और प्राचीन है, तथा एक लेखे यही सब की जननी है। क्योंकि सामान्यतः संस्कृत और विशेषतः प्रधान वा महाराष्ट्रीय प्राकृत से इसका अद्यावधि साक्षात् सम्बन्ध वर्त्तमान है। पीछे से पड़ा इसका 'हिन्दी' नाम भी यही साक्षी देता है, अर्थात वह भाषा कि जो समस्त हिन्द वा हिन्दोस्तान की हो।

मेले का ऊँट

[लेखक—बाबू बालमुकुन्द गुप्त]

भारतमित्र-सम्पादक! जीते रहो—दूध बताशे पीते रहो। भाँग भेजी सो अच्छी थी। फिर वैसी ही भेजना। गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहन मेले' के लेख पर निगाह पड़ी। पढ़कर आपकी दृष्टि पर अफ़सोस हुआ। पहली बार आपकी बुद्धि पर अफ़सोस हुआ था। भाई! आपकी दृष्टि गिद्ध की सी होनी चाहिये, क्योंकि आप सम्पादक हैं। किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध की सी होने पर भी उस पुरखे गिद्ध की सी निकली जिसने ऊँचे आकाश में चढ़े चढ़े भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा, पर उसके नीचे जो जाल बिछ रहा था वह उसे न सूझा। यहाँ तक कि उस गेहूँ के दाने को चुगने से पहले जाल में फँस गया।

'मोहन मेले' में आपका ध्यान दो एक पैसे की एक पूरी की तरफ़ गया। न जाने आप घर से कुछ खाकर गये थे या यों ही। शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे हो तो आश्चर्य न करना चाहिये, चार पैसे भी हो सकते थे। यह क्या देखने की बात थी? तुमने व्यर्थ बातें बहुत देखी, काम की एक भी देखते? दाईं ओर जाकर तुम ग्यारह सौ सतरों का एक पोष्ट कार्ड देख आए, पर बाईं तरफ बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया! बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते इसी से मोहन मेले वालों ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया है। बहुत सी शौक़ीन बीबियाँ, कितने ही फूल-बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गये। तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये और झुक झुककर उस काठ के घेरे में बैठे हुए ऊँट की तरफ़ देखने लगे। एक ने कहा—"ऊँटड़ो है" दूसरा बोला—ऊँटड़ो कठेते आयो?" ऊँट ने भी यह देख दोनों होठों को फड़काते हुये थूथनी फटकारी। भंग की तरङ्ग में मैंने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओं से कुछ कहता है। जी में सोचा कि चलो देखें वह क्या कहता है? क्या उसकी भाषा मेरी समझ में न आवेगी? मारवाड़ियों की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ में न आवेगी? इतने में तरंग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली साफ़ साफ़ समझ में आने लगी। ऊँट ने उन मारवाड़ी बाबुओं की ओर थूथनी करके कहा—

"बेटा! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे? यदि मेरी उमर का कोई होता तो वह जानता? तुम्हारे बाप जानते थे कि मैं कौन हूं, क्या हूँ। तुमने कलकत्ते के महलों में जन्म लिया, तुम पोतड़ों के अमीर हो मेले में बहुत चीज़ें हैं उनको देखो और यदि तुम्हें कुछ फ़ुरसत हो तो लो सुनो, सुनाता हूँ—

आज दिन तुम विलायती फिटिन, टमटम और जोड़ियों पर चढ़कर निकलते हो, जिनकी कतार तुम मेले के द्वार पर मीलों तक छोड़ आये हो, तुम उन्हीं पर चढ़कर मारवाड़ से कलकत्ते नहीं पहुँचे थे! ये सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई हैं। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होंगे, इससे वह भी मुझे भली भाँति नहीं पहचानते। मैंने ही उनको पीठ पर लादकर कलकत्ते

तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी। मैंने मारवाड़ से मिरज़ापुर तक और मिरज़ापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किये हैं। महीनों तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओं का घर बार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जना है वह सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थीं। मारवाड़ में मैं सदा तुम्हारे द्वार पर हाज़िर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ? इसी से इस मेले में तुम्हें देखकर आँखें शीतल करने आया हूँ। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नहीं घटता है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी से बँधा हुआ था। मैं ही हल चलाकर तुम्हारे खेतों में अन्न उपजाता था और मैं ही चारा आदि पीठ पर लाद कर तुम्हारे घर पहुँचाता था। यहाँ कलकत्ते में जल की कलें हैं, गंगा जी हैं, जल पिलाने को ग्वाले कहार हैं, पर तुम्हारी जन्म-भूमि में मेरी पीठ पर लदकर कोसों से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा की दृष्टि से न देखो। इस पर तुम्हारे बड़े अन्न, रस्सियाँ, यहाँ तक कि उपले लादकर दूर दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड़ के पहिये वाली, चमड़े की कोमल गद्दियोंदार फिटिन में बैठकर भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतना सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बगीचे में तुम्हारे गवैयों तथा तुम्हारी पसन्द की बीबियों के स्वर भी तुम्हें उतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घंटों का शब्द उनके सब बाजों में प्यारा लगता था। फोग के जंगल में मुझे चरते देखकर वह उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बगीचों में भंग पीकर, पेट भरकर और ताश खेलकर।"

भंग की निन्दा सुनकर मैं चौंक पड़ा। मैंने ऊँट से कहा—बस, बल-बलाना बन्द करो। यह बावला शहर नहीं जो तुम्हें परमेश्वर समझे। तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नहीं है। जो पेड़ों की छाल और

पत्तों से शरीर ढाँकते थे, उनके बनाये कपड़ों से सारा संसार बाबू बना फिरता है। जिनके पिता सिर पर गठरी ढोते थे वही पहले दर्जे के अमीर हैं। जिनके पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे, उनके सिर पर पगड़ी सँभालना भारी है। जिनके पिता का कोई पूरा नाम न लेकर पुकारता था; वही बड़ी बड़ी उपाधि धारे हुए हैं संसार का जब यही रंग है तो ऊँट पर चढ़ने वाले सदा ऊँट ही पर चढ़ें यह कुछ बात नहीं। किसी की पुरानी बात यों खोलकर कहने से आजकल के कानून से हतक-इज्जत हो जाती है। तुम्हें खबर नहीं कि अब मारवाड़ियों ने "एसोसियेशन" बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वह रिजोल्यूशन पास करके तुम्हें मारवाड़ से निकलवा देंगे। अतः तुम उनका कुछ गुणगान करो जिससे वह तुम्हारे पुराने हक को समझें और जिस प्रकार लार्ड कर्जन से किसी ज़माने के ब्लैक होल को उस पर लाट बनवाकर और उसे संगमरमर से मढ़वाकर शानदार बना दिया है उसी प्रकार मारवाड़ी तुम्हारे लिए मखमली काठी, ज़री की गद्दियाँ, हीरे-पन्ने की नकेल और सोने की घंटियाँ बनवाकर तुम्हें बड़ा करेंगे और अपने बड़ों की सवारी का सम्मान करेंगे।

आजकल के छायावादी कवि और कविता

[लेखक—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी]

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्-भर्तृ-हरि।

श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गणना महाकवियों में है। वे विश्वविश्रुत कवि हैं। उनके कविता-ग्रन्थ विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं। कविता-ग्रन्थों ही का नहीं, उनके अन्य ग्रन्थों का भी बड़ा आदर है; उनकी कृतियों के अनुवाद अनेक भाषाओं में हो गये हैं और होते आ रहे हैं। उन्हें साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किये कोई ५० वर्ष हो गये। बहुत कुछ ग्रन्थ रचना कर चुकने पर उन्होंने एक विशेष प्रकार की कविता की सृष्टि की है। यह

सृष्टि उनके अनवरत अभ्यास, अध्ययन और मनोऽभिनिवेश का फल अँगरेज़ी में एक शब्द है—(Mystic या Mystical) पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र ने, अपने त्रैभाषिक कोश में, उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। कुछ लोगों की राय में रवीन्द्रनाथ की यह नये ढंग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थबोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिये।

कुछ शब्दों में विशेष प्रकार की शक्ति होती है। कभी कभी एक ही शब्द या वाक्य से कई अर्थ निकलते हैं। ऐसे अर्थों की वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य संज्ञा है। वाक्य से तो साधारण अर्थ का ग्रहण होता है; लक्ष्य और व्यङ्ग्य से विशेष अर्थों का। पर रहस्यमयी कविता को आप इन अर्थों से परे समझिए। एक अलङ्कार का नाम है—सहोक्ति। जहाँ वर्ण्य विषय के सिवा किसी अन्य विषय का भी बोध साथ ही साथ होता जाता है वहाँ वह अलङ्कार माना जाता है। महाकवि ठाकुर की कविता इस अलङ्कार के भी भीतर नहीं आती। संस्कृत-भाषा में कितने ही काव्य ऐसे हैं जो आद्योपान्त द्व्यर्थक हैं। वर्णन हो रहा है हरि का, पर साथ ही अर्थ हर का भी निकलता जाता है। काव्य लिखा गया है राघव के चरित-चित्रण के सम्बन्ध में; पर करता चला जा रहा है पाण्डवों के भी चरित का चित्रण। इस तरह के भी काव्यों की कथा के भीतर कविवर ठाकुर की कविता नहीं आती। उस तरह की अटपटी कविता आती किसके भीतर है यह बात कवियों का यह किङ्कर नहीं बता सकता। बताने की सामर्थ्य उसमें नहीं। जिसे इस कविता का रहस्य जानना हो वह बँगला पढ़े, कुछ समय तक उस भाषा में लिखे गये काव्यों का अध्ययन करे, तब यदि वह इसकी गुप्त, गूढ़ या छायामयी कविता पर कुछ कह सके तो कहे। रहीम पर कुछ कहना हो तो राम का चरित गान करो; अशोक पर कुछ लिखना हो तो सिकन्दर के जीवन-चरित की चर्चा

करो—यह अघटनीय घटना पर लिखना साधारण कवियों का काम नहीं। पर रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग़ में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असम्भव को संभव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवीन्द्रनाथ ने चालीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही, कमर कसकर कर दिखाने के लिए उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कालेजों में रहते ही रहते छायावादी कवि बनने लग गये हैं। यदि ये लोग रवीन्द्रनाथ ही की तरह सिद्ध कवि हो जायँ और उन्हीं की गुह्यातिगुह्य कवित्व रचना करने में भी समर्थ हो जायँ तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन—

विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।

कविता किस उद्देश से की जाती है? ख्याति के लिए, यश-प्राप्ति के लिए, धनार्जन के लिए या दूसरों के मनोरञ्जन के लिए। इनके सिवा तुलसीदास की तरह "स्वान्तःसुखाय" भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई कोई कवि आत्मनिवेदन भी कविता-द्वारा ही करते हैं। पर ये बातें केवल भक्त कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती हैं। अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते हैं और उनका वह मतलब ख्याति लाभ और मनोरञ्जन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इन सभी उद्देशों की सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि की कविता का आशय दूसरों की समझ में झट आ जाय। क्योंकि जो बात समझ ही में न आवेगी उसको दाद देगा कौन? न उससे किसी का मनोरञ्जन ही होगा; न उसे सुनकर सुननेवाला कवि का अभिनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा तब वह कवि को कुछ देगा क्यों? अब विचार करने की बात है कि वर्तमान छायावादी कवियों की कविता में श्रोताओं को मुग्ध करने योग्य गुण है या नहीं। इस पर, आगे चलकर, हम सप्रमाण विचार करेंगे।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवि दूसरों को प्रसन्न

करने के लिए कविता रचना नहीं करते। वे अपनी ही मनस्तुष्टि के लिए कविता लिखते हैं। इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर वे दूसरों से अपनी कविता की समालोचना के अभिलाषी क्यों होते हैं? मान लीजिये कि ये लोग बड़े अच्छे कवि हैं; परन्तु यदि वे अपनी कविता की रचना अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए लिखते हैं तो उससे संसार को क्या लाभ? अपनी चीज़ किसे अच्छी नहीं लगती? तुलसीदास ने कहा ही है—"निज कवित्त केहि लाग न नीका।" ऐसे कवियों के विषय में कविवर रुद्रभट्ट की एक उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है—

सत्यं सन्ति गृहे गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरी
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते जातैर्गुणैर्गौरवम्।
दुष्प्राप्यः स तु कोऽपि कोविदपतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा॥

ऐसे कवि तो घर घर में भरे पड़े हैं जिनकी वचन-चातुरी अपने ही आँगन में मनोहारिणी बातें करनेवाली कुलकन्या के समान, गुणों के प्रशंसक स्वजनों ही से आदर पाती है। परन्तु जिनकी सरस वाणी (दूर दूर तक के) रसग्राही कविता-प्रेमियों का चित्त, कलाकुशल वारवनिता के सदृश, चुरा लेने में समर्थ होती है वे कवीश्वर मुश्किल से कहीं पाये जाते हैं।

एक बात और भी है। यदि ये लोग अपने ही लिए कविता करते हैं तो अपनी कविताओं का प्रकाशन क्यों करते हैं? प्रकाशन भी कैसा? मनोहर टाइप में, बहुमूल्य काग़ज़ पर, अनोखे चित्रों से सुसज्जित। टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पंक्तियों में, रङ्ग-बिरंगे बेलबूटों से अलंकृत। यह इतना ठाट-बाट —यह इतना आडम्बर—दूसरों ही को रिझाने के लिए हो सकता है, अपनी आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं। परन्तु सत्कवि के लिए इस आयोजन की आवश्यकता नहीं। जिन कवियों को नाम शेष हुए हज़ारों वर्ष बीत चुके उनको यह कुछ भी नहीं करना पड़ा। करना भी चाहते तो वे कर सकते। क्योंकि उस समय ये साधन ही सुलभ न थे। किसी ने अपना काव्य ताड़पत्र पर लिखा, किसी ने भोजपत्र पर। किसी ने भद्दे और खुरदरे काग़ज़ पर। पर

जनता ने प्रकाशन के आडम्बरों से रहित इन सत्कवियों के काव्यों को यहाँ तक अपनाया कि समय उनको नष्ट न कर सका, धर्मान्ध आततायियों से उनका कुछ न बिगड़ सका, जलाप्लावन और भूकम्प आदि का ज़ोर भी उनका नाश न कर सका। सहृदय सज्जनों और कविता के पारखियों ने उन्हें आत्मसात् करके उन्हें अपने कण्ठ और अपने हृदय में स्थान देकर अमर कर दिया। सड़े गले काग़ज़ और फटे पुराने ताड़पत्र को देखकर काव्य-रसिकों ने उन्हें फेंका नहीं। उन पुरातन पात्रों में कुछ ऐसा मोहनमन्त्र था—उनमें कुछ ऐसी अद्‌भुत शक्ति थी—जिसने उन्हें मोह लिया वह शक्ति—वही मन्त्रौषधि—उन काव्यों के जीवित रहने का कारण हुई। सो, छायावादी कवि अपनी कृति को चाहे जितने रम्य रूप में प्रकाशित करे—उसके उपकरणों को वह चाहे जितना मनोमोहक बनावे—यदि उसकी कविता में वह शक्ति नहीं जो सत्कवियों की कविता में होती है तो उसके आडम्बर-जाल में सरसहृदय श्रोताशुक कदापि फँसने के नहीं।

प्राचीन कवियों को जाने दीजिए। आधुनिक कवियों में भी ऐसे कई सत्कवि इस समय विद्यमान हैं जिनकी कविता-पुस्तकों के थोड़े ही समय में, अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उनकी कवितायें मदर्सों, स्कूलों और कालेजों के छात्रों तक के कण्ठहार हो रही हैं। इन कवियों ने अपनी कविताएँ सजाकर प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं की और किसी किसी ने की भी है तो बहुत ही थोड़ी। फिर भी इनकी कविता का जो इतना आदर हुआ है उसका एकमात्र कारण है उसकी सरसता, उसका प्रसाद-गुण, उसकी वर्णाभरणता और उसकी चमत्कारिणी रचना। अतएव सत्कवियों के लिए आडम्बर की ज़रूरत नहीं—

किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। गूढ़ार्थ-विहारी या छायावादी कवियों की कहीं यह धारणा तो नहीं कि हमारी कविता में कविलभ्य गुण तो है ही नहीं, लावो ऊपरी आडम्बरों ही से पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करें। परन्तु यह सन्देह निराधार सा जान पड़ता है; क्योंकि इन महाशयों में से कविता-कान्तार के किसी किसी कण्ठीरव ने बड़े गर्जन-तर्जन के

साथ अन्य कवियों को लथेड़ा है। उन कठोर कर्म्मा कवियों की दहाड़ें सुनकर ही शायद अन्य कवि भयभीत होकर अपने अपने गृह-गह्वरों में जा छिपे हैं। किसी से अब तक कुछ करते धरते नहीं बना। इन महाकवियों के महाराजों की समझ में जो कवि इनकी जैसी कविता के प्रशंसक, पोषक या प्रणेता नहीं वे कवि नहीं किन्तु कवित्व हंता हैं। इस "कवित्व हंता" पद के प्रयोग का कर्त्ता आप कवियों के इस किङ्कर ही को न समझिये। यह शब्द एक और ऐसे ही शब्द के बदले यहाँ लिखा गया है जो है तो समानार्थक, पर सुनने में निकृष्ट-निर्दयता सूचक है। वह शब्द, इस विषय में, एक ऐसे साहित्य-शास्त्री द्वारा प्रयोग में लाया गया है जो संस्कृत-भाषा में रचे गये अनेक महाकाव्यों के रसार्णव में आ शैशव गोता लगाते चले आ रहे हैं और जिनका निवास इस समय लखनऊ के अमीदाबाद मुहल्ले में है। अतएव इस शब्दात्मक कठोर कशाघात के श्रेय के अधिकारी वही हैं।

सत्कवि के लिए आडम्बर की मुतलक़ ज़रूरत नहीं। यदि उसमें कुछ सार है तो पाठक और श्रोता स्वयं ही उसके पास दौड़े आवेंगे। आम की मञ्जरी क्या कभी भौंरों को बुलाने जाती है?

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्,

बात यह।

आज कल के कुछ कवि कवि-कर्म्म में कुशलता-प्राप्ति की चेष्टा तो कम करते हैं, आडम्बर-रचना की बहुत। शुद्ध लिखना तक सीखने के पहले ही वे कवि बन जाते हैं और अनोखे अनोखे उपनामों की लांगूल लगाकर अनाप-शनाप लिखने लगते हैं। वे कमल, विमल, यमल और अरविन्द, मिलिन्द, मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अख़बारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना आरम्भ कर देते हैं। अपनी कविताओं ही में नहीं, यों भी जहाँ कहीं वे अपना नाम लिखते हैं, काव्योपनाम देना नहीं भूलते। यह रोग उनको उर्दू के शायरों की बदौलत लग गया है। पर इससे कुछ भी होता जाता नहीं। शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन और कालिदास, भारवि भव भूति आदि कवि इस रोग से बरी थे। फिर भी उनके काव्यों का देश-देशा-

-स्तरों तक में आदर है। उपनाम धारण की असारता उर्दू ही के प्रसिद्ध कवि चकबस्त ने खूब समझी थी। उनका कथन है—

ज़िक्र क्यों आयेगा बज़्मे शुअरा में अपना,
मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।

अनूठे अनूठे तख़ल्लुस (उपनाम) लगाने से किसी की प्रसिद्धि नहीं होती। चकबस्त जी का कौल है—

किस वास्ते जुस्तजू करूँ शुहरत की,
इक दिन खुद ढूँढ़ लेगी शुहरत मुझको।

गुण होने ही से प्रसिद्धि प्राप्त होती है। पकड़ लाने की चेष्टा से वह नहीं मिलती।

कवित्व-शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होती है। यह शक्ति बड़ी दुर्लभ है। कवियशोलिप्सुओं के लिए कुछ साधनों के आश्रय की आवश्यकता होती है। ये साधन अनेक हैं। उनमें से मुख्य तीन हैं—प्रतिभा (अर्थात् कवित्व-बीज) अध्ययन और अभ्यास। इनमें से किसी एक और कभी कभी किसी दो की कमी होने से भी मनुष्य कविता कर सकता है। परन्तु प्रतिभा का होना परमावश्यक है। बिना उसके कोई मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक कविकण्ठाभरण में थोड़े ही में, इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। वर्त्तमान कविमन्यों को चाहिए कि वे उसे पढ़ें, स्वयं न पढ़ सकें तो किसी संस्कृतज्ञ से उसे पढ़वा कर उसका आशय समझ लें। ऐसा करने से, आशा है, उन्हें अपनी त्रुटियों और कमज़ोरियों का पता लग जायगा। कवित्व-शक्ति होने पर भी पूर्ववर्ती कवियों और महाकवियों की कृतियों का परिशीलन करना चाहिए और कविता लिखने का अभ्यास भी कुछ समय तक करना चाहिए। छन्दः प्रभाकर में दिये गये छन्दोरचना के नियम जानकर तत्काल ही कवि न बन बैठना और समाचार-पत्रों के स्तम्भों तक दौड़ न लगाना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि बनने की इच्छा रखने वालों के तीन दरजे होते हैं—अल्प-प्रयत्नसाध्य, कृच्छ्र-साध्य और असाध्य। इनमें से पहले दोनों के लिए भी बहुत कुछ अध्ययन,

श्रवण, विचार और अभ्यास की ज़रूरत होती है। यह नहीं कि तेरह-तेरह मात्राओं के दोहे लक्षण जान लेते ही काता और ले दौड़े। अन्तिम तीसरे दरजे के मनुष्य के लिए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनिलधूमिनावा प्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥२२॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥२३॥

जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्मरोगी है, व्याकरण "घोखते" "घोखते" जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-पट और अग्नि धूम आदि से सम्बन्ध रखनेवाली फक्किकाएँ रटते रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और और चाहे जितना अभ्यास करावें वह कभी कवि नहीं हो सकता। सिखाने से भी क्या गधा भैरवी अलाप सकता है? अथवा दिखाने से भी क्या अन्धा मनुष्य सूर्यबिम्ब देख सकता है?

अब आप ही कहिए कि जिन्होंने कवित्व-प्राप्ति-विषयक कुछ भी शिक्षा नहीं पाई, जिन्होंने उस सम्बन्ध में वर्ष दो वर्ष भी अभ्यास नहीं किया और जिन्होंने इस बात का भी पता नहीं लगाया कि उनमें कवित्व-शक्ति का बीज है या नहीं वे यदि बलात् कवि बन बैठें और दुनिया पर अपना आतङ्क जमाने के लिए कविता-विषयक बड़े बड़े लेक्चर झाड़ें तो उनके कवित्व की प्रशंसा की जानी चाहिये या उनके साहस, उनके धाष्ट्र्य और उनके अविवेक की।

× × ×

अच्छा, कविता कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर बहुत टेढ़ा है। इसलिए कि इस विषय में, आचार्यों और विशेषज्ञों में, मतभेद है। कविता कुछ सार्थक शब्दों का समुदाय है अथवा यह कहना चाहिये कि वह ऐसे ही शब्द-समुदाय के भीतर रहनेवाली एक वस्तु-विशेष है। कोई तो कहते हैं कि वे शब्द या वाक्य यदि सरस हैं तभी कविता की कक्षा के भीतर आ सकते

हैं। कोई उनके अर्थ को रमणीयता-सापेक्ष्य बतलाता है। कोई उनमें उनके भाव के अनूठेपन की परख लगाता है। कोई इन विशेषताओं के साथ शब्द-शुद्धि, छन्दशास्त्र के नियमों के परिपालन और अलङ्कार आदि की योजना को भी आवश्यक बताता है। पर आप इन पचड़ों और झगड़ों को जाने दीजिए। आप सिर्फ़ यह देखिए कि कोई पत्र लिखता, बोलता या व्याख्यान देता है तो दूसरे पर अपने मन का भाव प्रकट करने ही के लिए वह ऐसा करता है या नहीं। यदि वह इसीलिए कुछ नहीं करता तो न उसे लिखने की ज़रूरत और न बोलने की। उसे मूक बनकर या मौनधारण करके ही रहना चाहिए सो बोलने या लिखने का एक मात्र उद्देश्य दूसरों को अपने मन की बात बताने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। जो अँगरेजी या बँगला भाषा नहीं जानता उसे इन भाषाओं की बढ़िया से भी बढ़िया कविता या कहानी सुनाना बेकार है। जो बात या जो भाषा मनुष्य सब से अधिक सरलता से समझ सकता है उसी बात या उसी भाषा की पुस्तक पढ़ने या सुनने से उसके हृदय पर कुछ असर पड़ सकता है। क्योंकि जब तक दूसरे का व्यक्त किया हुआ मतलब समझ में न आवेगा तब तक मनुष्य के हृदय में कोई भी विकार जागृत न होगा। पशुओं के सामने आप उत्तमोत्तम कविता का पाठ कीजिये। उनपर कुछ भी असर न होगा।

अतएव गद्य हो या पद्य, उनमें जो कुछ कहा गया हो वह श्रोता या पाठक की समझ में आना चाहिए। वह जितना ही अधिक और जितना ही जल्द समझ में आवेगा, गद्य या पद्य के लेखक श्रम उतना ही अधिक और उतना ही शीघ्र सफल हो जायगा। जिस लेख या कविता में यह गुण होता है उसकी प्रासादिक संज्ञा है। कविता में प्रसाद गुण यदि नहीं तो कवि की उद्देश्य सिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये। जो कुछ कहना हो उसे इस तरह कहना चाहिए कि वह पढ़ने या सुननेवालों की समझ में तुरन्त ही आ जाय। इसे तो आप कविता का पहला गुण समझिये। दूसरा गुण कविता में यह होना चाहिए कि कवि के कहने के ढङ्ग में कुछ निरालापन या अनूठापन

हो — वह अपने मन के भाव को इस तरह प्रकट करे जिससे पढ़ने या सुनने वाले के हृदय में कोई न कोई विकार जागृत, उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी। यह भी न हो तो उसकी कविता सुनकर श्रोता का चित्त तो कुछ चमत्कृत हो। यदि कवि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों के हृदयों को प्रभावान्वित कर सके तो कम से कम उसे अपनी बात ऐसे शब्दों में तो ज़रूर ही कहनी चाहिए जो कान को अच्छी लगे। कथन में लालित्य होना चाहिए; उसमें कुछ माधुर्य होना चाहिए। कविता के शास्त्रीय लक्षणों की परवा न करके जो कवि कम से कम इन तीनों गुणों मेंसे सब के न सही, एक ही दो के साधन में सफल होने की चेष्टा करेंगे उन्हीं की कविता, न्यूनाधिक अंश में, कविता कही जा सकेगी।

"आबेहयात" के लेखक प्रोफेसर आज़ाद ने संस्कृत भाषा में लिखे गये साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों का अध्ययन न किया था। पर थे वे प्रतिभावान्, सहृदय और काव्यप्रेमी। इसी से उन्होंने छोटी छोटी दो ही सतरों में सत्कविता का कैसा अच्छा निरूपण किया—निरूपण क्या किया है, परमात्मा से उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। वे कहते हैं—

है इल्तिजा यही कि अगर तू करम करे।
वह बात दे ज़बाँ में के दिल पर असर करे॥

देखिये, उन्हें माल, मुल्क, प्रभुता, महत्ता किसी की भी इच्छा नहीं। इच्छा सिर्फ़ यह है कि जो कुछ वे कहें उसका असर सुनने वाले के दिल पर पड़े। सत्कविता का सबसे बड़ा गुण—सबसे प्रधान लक्षण—यही है।

सत्कवियों की वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। वही श्रोताओं और पाठकों को अभिलषित दिशा की ओर खींचती और उद्दिष्ट विकारों को उन्मार्जित करती है। असर पैदा करना—प्रभाव जमाना—उसी का काम है। सत्कवि अपनी कविता के प्रभाव से रोते हुओं को हँसा सकता है, हँसते हुओं को रुला सकता है, भीरुओं को युद्ध-वीर बना सकता है, वीरों को भयाकुल और त्रस्त कर सकता है, पाषाण-हृदयों के भी मानस में दया का संचार कर सकता

है। वह सांसारिक घटनाओं का इतना सजीव चित्र खड़ा कर देता है कि देखनेवाले चेष्टा करने पर भी उसके ऊपर से आँख नहीं उठा सकते। जब वह श्रोताओं को किसी विशेष विकार में मग्न करना अथवा किसी विशेष दशा में लाना चाहता है तब वह कुछ ऐसे भावों का उन्मेष करता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और विवश से होकर कवि के प्रयत्न को बिना विलम्ब सफल करने लगते हैं यदि वह उनसे कुछ कराना चाहता है तो करा कर ही छोड़ता है। सत्कवि के लिए ये बातें सर्वथा सम्भव हैं।

यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजृम्भण है; यदि उसकी भाषा निरी नीरस है, यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि सम्भव नहीं। और यदि उसकी क्लिष्ट कल्पनाओं और शुष्क शब्दाडम्बर के भीतर छिपे हुए उसके मनोभाव श्रोताओं की समझ ही में न आये तो कोढ़ में खाज ही उत्पन्न हो गई समझिए। ऐसी कविता से प्रभावान्वित होना तो दूर उसे पढ़ने तक का भी कष्ट शायद ही कोई उठाने का साहस कर सके। बात यदि समझ ही में न आई तो पढ़ने या सुननेवाले पर असर पड़ कैसे सकता है? जो कवि शब्द-चयन, वाक्यविन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार प्रकार की काट छाँट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बना-मात्र है। किसी ने लिखा है—

> तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां सुवर्णसंघेन च ये न पूर्णाः।
> ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पा यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम्?

जिनके पास न तो अर्थरूपी रत्न ही हैं और न सुवर्ण-रूपी सुवर्णसमूह ही है वे कवियों की रीति-मात्र का आश्रय लेकर—काँसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखनेवाले किसी दरिद्रकल्प मनुष्य के सदृश—भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं?

आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है जो देश प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या "चलो वीर पटुआखाली" की तरह की पंक्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के गुण भले ही न हों, पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर छायावादियों की रचना तो कभी समझ में भी नहीं आती। ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं—कोई छःपदे, कोई ग्यारह पदे! कोई तेरहपदे! किसी की चार सतरें गज़ गज़ भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अंगुल की! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करने वाले! इनका मूल मन्त्र है—हमचुनां दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।

+ + +

कल्पना कीजिये कि कवि-चक्रचूड़ामणि चन्द्रचूड़ चतुर्वेदी छायात्मक कविता के उपासक हैं। आप को विश्व-विधाता के रचना-चातुर्य्य का वर्णन करना है। यह काम वे प्रत्यक्ष रीति पर करना चाहते नहीं। इसलिए उन्होंने किसी माली या कुम्भकार का आश्रय लिया और लगे उसके कार्य्य-कलाप की खूबियों का चित्र उतारने। अब उस माली या कुम्हार की कारीगरी का वर्णन सुनकर प्रतिपद, प्रतिवाक्य, प्रतिपद्य में ब्रह्मदेव की कारीगरी का यदि भान न हुआ तो कवीश्वर जी अपनी कृति में कृत-कार्य कैसे समझे जा सकेंगे। इस तरह का परोक्ष वर्णन क्या अल्पायास-साध्य होता है? क्या यह काम किसी ऐसे-वैसे कवि के बूते का है? रवीन्द्रनाथ ने जो काम कर दिखाया है वह क्या सभी ऐरे-गैरे कर दिखा सकते हैं? जब ये लोग अपने लेख का भाव कभी कभी स्वयं ही नहीं समझा सकते तब दूसरे उसे कैसे समझ सकेंगे? अफ़सोस तो इस बात का है कि ये इतनी मोटी-मोटी

बातें भी इनके ध्यान में नहीं आतीं। कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कवित सुनकर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उन पर होगा क्या ख़ाक!

यदि कोई यह कहे कि ये नवयुवक कवि परमात्मा के रहस्यों का परोक्ष पर प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करके अपनी कविता में अपने उन अनुभवों को प्रकट करते हैं तो ऐसा कहना या समझना उस परमात्मा की विडम्बना करना है।

× × ×

कविजन विश्वास रखें, कवियों के इस किङ्कर ने इस लेख में कोई बात द्वेष-बुद्धि के नहीं लिखी। जो कुछ उसने लिखा है, हितचिन्तना ही की दृष्टि से लिखा है। फिर भी यदि उसकी कोई बात किसी को बुरी लगे तो वह उसे उदारता-पूर्वक क्षमा कर दे—

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु ते विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।

महिषासुर के सिर ने जिसकी कठोर ठोकर खाई है और आनन्दमग्न पुरन्दर ने जिस पर फूल माला चढ़ाई है; नूपुरों की मधुर-ध्वनि करनेवाला, भगवती अम्बिका का वही पादपद्म, हिन्दी के छायावादी तथा अन्य कवियों को इतना बल दे कि वे अपने असद्विचारों को हराकर उन पर सदा विजय-प्राप्ति करते रहें। अन्त में इस किङ्कर की यही कामना है।

रामलीला

[लेखक—पं० माधवप्रसाद मिश्र]

आर्य्य वंश के धर्म्म कर्म्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्गविरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्व-व्यापक प्रकाश, जिसने एक समय जगत् में अन्धकार का नाम तक न छोड़ा

था—अब कहाँ है ? इस गूढ़ एवं मर्म्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया।' निःसन्देह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महा-पेट में समा गया।'

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब चकनाचूर हो हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिन्ह वा नाम बना हुआ है, यही डूबते हुये भारतवर्ष का सहारा है और यही अन्धे भारत के हाथ की लकड़ी है।

जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकिंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है! पाठक! ज़रा विचार कर देखिये, ऐसी अवस्था में कहाँ कब तक शान्ति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख शान्ति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल राम नाम पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शान्तिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अन्धे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रति दिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी कभी यहाँ भी एक प्रबल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसकी आशा परित्याग कर देनी चाहिये। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रही है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किन्तु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या समार्थ्य है कि कोई उसे रोक सके ! क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुन्धरा के हृदय का प्रवाह है, जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निःसन्देह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अन्धकार निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह दीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्ति भाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्मांड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है और उपनिषद् जिसके लिये पुकार रहे हैं—

"तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति" ॥

वह प्रदीप भगवान् रामचन्द्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यद्यपि राम नाम की क्षुद्र, प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, परंतु यह नाम का दोष नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि उनका भक्ति-भाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमंडल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगंतव्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेशभक्त उत्पन्न होते थे, इसमें सौभाग्य और सौहार्द का अभाव न था, गुरु-भक्ति और पितृ-भक्ति हमारा नित्यकर्म था, शिष्ट का पालन और दुष्ट-दमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें—कभी हम भी ऐसे थे कि जगत् का लोभ हमें अपने कर्त्तव्य से नहीं हटा सकता था। अब वह

बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है।

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मन्द भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसन्धान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा। सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञानशून्य हो जायगा इस लिए उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम नाम' का दृढ़ सम्बन्ध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म्म को— अधिक क्या जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है। और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचन्द्र जी की पितृभक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरत जी का स्वार्थत्याग, वशिष्ट जी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यश्रृंग का तप, जानकी जी का पातिव्रत, हनुमान जी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथ जी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है? जो अपने "रामचन्द्र" को जानता है वह अयोध्या, मिथिला को कब भूला हुआ है। वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिये, रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए।'

बस इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'राम नाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है! भगवान रामचन्द्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्माण्ड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है? मनुष्य कैसा ही पुरुषोत्तम क्यों

न हो वह अन्त को मनुष्य है। इस लिए आर्य्यवंश में राम ही का जयजय-कार हुआ और है और जब तक एक भी हिन्दू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में, सर्वत्र 'राम नाम' का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को दृढ़ रखने के लिए ही प्रतिवर्ष रामलीला होती है। मान लीजिए कि वह सभ्यताभिमानी नवशिक्षितों के नजदीक खिलवाड़ है, वाहियात और पोपलीला है, पर क्या भावुक जन भी उसे ऐसा ही समझते हैं? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि पर-पद-दलित आर्य-समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में कौशल्यानन्दन आनन्दवर्द्धन भगवान् रामचन्द्र जी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है?

आठ सौ वर्ष तक हिन्दुओं के सिर पर कृपाण चलती रही, परन्तु 'रामचन्द्र जी की जय' तब भी न बन्द हुई। सुनते हैं कि औरंगजेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि "हिन्दुओ! अब तुम्हारे राजा रामचन्द्र नहीं हैं। हम हैं। इसलिए रामचन्द्र की जय बोलना राजद्रोह करना है।" औरंगजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने राजभक्त हिन्दुओं का रक्तपात किया सही, पर 'रामचन्द्र की जय' को न बन्द कर सका। कहाँ है वह अभिमानी? लोग अब रामचन्द्र जी के विश्व-ब्रह्माण्ड को देखें और उसकी मृण्मय समाधि (कब्र) को देखें फिर कहें कि राजा कौन है? भला कहाँ राजाधिराज रामचन्द्र और कहाँ एक अहंकारी क्षणजन्मा मनुष्य।

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, राम-चरित्र को अनुकरण योग्य समझते हैं एवं रामचन्द्र जी को भुक्ति-मुक्तिदाता मान रहे हैं, और एक वे लोग हैं, जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है, कि 'रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं, किन्तु केवल किसी घटना और अवस्थाविशेष का रूपक बाँधने के लिए लिख दिए गये हैं।" निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस

भ्रांत मत का प्रचार करने वाले वेबर साहब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न कह कर हिन्दी के प्रातः स्मरणीय सुलेखक पंडित प्रतापनारायण मिश्र के लेख को उद्धृत करते हैं—

अहा! यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक सम्बन्ध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी को नहीं है। जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं, ये दोनो अर्थ राम नाम में पाए जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में सदा सर्वदा रामजी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण कहीं ढूँढ़ने नहीं जाना, आकाश में रामधनुष (इन्द्रधनुष) धरती पर रामगढ़, रामपुर, रामनगर, रामगंज, रामरज, रामगंगा, रामगिरी (दक्षिण में); खाद्य पदार्थों में रामदाना, रामकीला (सीताफल), रामतरोई, रामचक्र; चिड़ियों में रामपाखी (बंगाल में मुरगी); छोटे जीवों में रामबरी (मेंढ़की); व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुँगौड़े तथा जहाँगीर ने मदिरा का नाम रामरंगी रखा था कि 'रामरंगिए मा नश्शाए दीगर दारद' कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुनके कौन न मान लेगा कि जल, थल, भूमि, आकाश, पेड़ पत्ता, कपड़ा लत्ता, खान पान सब में राम ही रम रहे हैं।

मनुष्यों में रामलाल, रामचरण, रामदयाल, रामदत्त, रामसेवक, रामनाथ, रामनारायण, रामदास, रामदीन, रामप्रसाद, रामगुलाम, रामबकस रामनेवाज, स्त्रियों में भी रामदेई, रामकिशोरी, रामपियारी, रामकुमारी इत्यादि कहाँ तक कहिए जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं जिधर सुनिए राम ही नाम सुन पड़ता है व्यवहारों में देखिए लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत; जनेऊ, ब्याह, मुंडन छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम, राम' दुःख में 'हाय राम!' आश्चर्य अथवा दया में अरे राम; महाप्रयोजनीय पदार्थों में भी इस नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा; स्त्री का विशेषण रामा (रामपति), मदिरा का नाम

रम (पीते ही नस नस में रम जानेवाली), यही नहीं मरने पर भी 'राम राम सत्य है,' उसके पीछे भी गया जी में रामशिला पर श्राद्ध ! इस सर्व व्यापकता का क्या कारण ? यही कि हम अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे। कोई बात, कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी सर्व स्थान में रमण करने वाले को भूल जायँ। अथच राम भक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानन्द वर्धन, जानकी जीवन, अखिलार्य-नरेन्द्र-निषेवित-पाद-पद्म, महाराजाधिराज मायामानुष भगवान रामचन्द्र जी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे। इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे कि जो हमारे दशरथ-राजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, अवश्य प्रेम राज में बैठने लायक नहीं हैं ! पर यहाँ पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्य वंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं, यहाँ तक कि सहृदय समाज को 'राम पाद नख ज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किंचित् संकोच नहीं होता ! इसका कारण यही है कि राम के रूप गुण स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम, भक्ति, सहृदयता, अनुराग का महासागर न उमड़ उठता हो ! आज हमारे यहाँ की सुख-सामग्री सब नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्ष से हम दिन दिन दीन होते चले आते हैं पर तो भी राम से हमारा सम्बन्ध बना है। उनके पूर्व-पुरुषों की राजधानी अयोध्या को देख के हमें रोना आता है। जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय ! आज वह फैजाबाद के जिले में एक गाँव मात्र रह गया है। जहाँ एक से धीर धार्मिक महाराज राज्य करते थे वहाँ आज बैरागी तथा थोड़े से दीनदशादलित हिन्दू रह गए हैं।

जो लोग प्रतिमापूजन के द्वेषी हैं परमेश्वर न करे यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा ? थोड़े से मन्दिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे हाड़ हैं ! पर हाँ रामचन्द्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है ! हमारे इतिहास का हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजनों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत

में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी, पर भगवान् रामचन्द्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र से (जो बचे बचाये मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) सर्वोपरि श्रेष्ठ महात्वपूर्ण परम सुहावन है, जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथवा यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं। हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें अपना लेंगे, बानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावेंगे? यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण से सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं। हमारे कविवर बाल्मीकि ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात न छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रखी है कि थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले भी समझ सकते हैं। यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान् तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिन्दी जानने वाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानन्द पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्वप्रकार हितसाधन कर सकते हैं। केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा। रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचारशक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकता, सरसता का कारण क्या है, तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्यशक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना! पर यह बात भी अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है फिर इन सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता। वे संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्तचित्त होते हैं, इससे स्वयंसिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उसपर बड़े बड़े कवीश्वरों ने श्रद्धा की है, और अपनी पूरी कविताशक्ति उसपर निछावर करके हमारे लिए ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं, इस हीन दशा में भी काव्यानन्द के द्वारा परमानन्द पा सकते हैं, और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं। खेद है, यदि हम भारत सन्तान कहाकर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर

न करें और जिनके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुए हैं उनका उपकार न मानें तथा ऐसे राम की, जिनके नाम पर हमारे लिए पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा एवं मनोविनोद की नींव थी, अथच हमारे लिए गिरी दशा में भी जो सच्चे अहंकार का कारण और जिनसे आगे के लिए सब प्रकार के सुधार की आशा भूल जाँय ! अथवा किसी के बहकने से रामनाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तो कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक ! यदि सब भाँति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा सब ठौर सब दशा में राम का ध्यान रखो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो, सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो। बस इसी में तुम्हारे लिये सब कुछ है। इस 'रकार' और 'मकार' का वर्णन तो कोई त्रिकाल में कही नहीं सकता। कोटि जन्म गावें तो भी पार न पावेंगे।

मजदूरी और प्रेम

(लेखक—अध्यापक पूर्णसिंह जी)

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिर कर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है उसका

सारा जीवन पत्ते पत्ते में, फूल फूल में, फल फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे, मन्दिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ उसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञा-कारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई" भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य्य और चंद्रमा छन छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव

एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं और क्यों न सुफेद हों? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे ।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे ॥

बोलता कोई भी नहीं । सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है ।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और बन की सुगन्धि से सुगन्धित है । इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है ।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको ।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो ॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई । दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं । उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते देखते गल गईं । पता नहीं ये किसे बुलाती हैं । हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं । पर, हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्द-रहित, संकल्प रहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं । इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है । इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झमझम बरसने लगे । मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए । बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मस्त होकर नाचने लगा । वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया । साथ ही धमधम थमथम नाच की उन्होंने धूम मचा दी । मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया । मेरे पास मेरा भाई खड़ा था । मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो ।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा । विद्या को भूल

जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिया की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूं, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटांग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मज़दूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—'यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।' वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे। अतएव ईश्वर के निर्म्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठ कर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला।

रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है; उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कह कर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवनरूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है ? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतने सदियों के बाद भी, उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज़ में कहाँ ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बन्द किये हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते

हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं- क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए सूखे रूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल मैं पीता हूँ, अपनी, प्रेयसी के प्रेमामृत का पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है।? प्रेम से जीवन सदा गद्-गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी ऐसी प्रेम-भरी, रस भरी, दिलभरी, सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीस कर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है। तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रंगीली, जीती जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। वह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मज़दूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ़ की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ सौ बिकते है। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के साथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर चिंतन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वरप्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने काटने, और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब के सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें

पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला कौशलपूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कण्ठ से नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रंगे हुए ये बेजबान कवि जब जङ्गल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावतों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नये कवि पैदा होंगे; तभी नये औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं है। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किये फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीज़ें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब

तक बिस्तर पर पड़े पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगन्ध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अन्तःकरण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना, उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना, मानों सोते सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके खेल बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परन्तु इस सालवाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगन्ध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परन्तु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय हो गया।

मज़दूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टिरूप परिणाम है, आत्मा रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेमधर्म का तत्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म

का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता पिता से पैदा हुए भाई बहन हैं। अपने ही भाई बहनों के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, निरोग और रूपवान् कुटुम्बी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन रात घूमती है यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परन्तु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आफ् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टालस्टाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर

और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज को पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर दूर से साधु आये हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमन्त्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने-वाली दूध की धारा है। यही धारा शिव जी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकान्तर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हज़ारों की कीमत का बना देती हैं; नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी जापानी चीज़ें मशीन से बनी हुए चीजों को

मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, सम्भव है, हम जगत् को जीत लें। (We shall Beat the world with the tips of our fingers जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों का अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते जागते और हिलते जुलते प्रतिरूप हैं। उनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी, सुन्दरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पांव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है; परन्तु मन के गुप्त भावों और अन्तःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के ताण्डव नृत्य को और पार्वती जी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना

है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम मजदूरी अर्थात् वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम पुकारे जाते हैं याद रखिए बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले रस्किन और टालस्टाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है वहाँ के गम्भीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नये प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और हो क्यों न? इंजनों के पहियों के नीचे दबकर वहाँवालों के भाई बहन—नहीं नहीं उनकी सारी जाति पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गये; उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर

रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं; लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तोगई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए—मजदूरों को सुख देने के लिए—परन्तु वे काली काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिमवालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही है। वे छोड़ना चाहते हैं; परन्तु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनन्द अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हमी, मशीनों की कृपा से बढ़े हुए पश्चिम वालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम में आने वाली सभ्यता के नये प्रभाव को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नंगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनन्द-मंगल का एक साधारण सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई बहनों तथा मान-

सिर्फ सुख और कल्याण के देने वालों को मार कर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपटमन और मित्रता-पूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हराभरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक एक प्याला घर घर में, कुटिया कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीति आशकों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

हिन्दी में भावव्यंजकता

[पं० श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०]

हमारी हिन्दी भाषा की उत्पत्ति संवत् ७०० के लगभग हुई थी, किन्तु अनेकानेक प्रकट कारणों से यहाँ प्राचीन काल में गद्य की उन्नति नहीं हुई। सबसे प्राचीन हिन्दी गद्य लेखक महात्मा गोरखनाथ हुए, जो एक प्रसिद्ध धर्म के प्रवर्त्तक थे। आपने गद्य में एक ग्रन्थ लिखा अवश्य, किन्तु उसमें भी साधारण धर्मोपयोगी विषयों के अतिरिक्त कोई विशेष वर्णन नहीं है। इन महात्मा के पीछे अकबर के समय में दो चार गद्य लेखक हुए, किन्तु फिर भी गद्य की उन्नति विशेष नहीं हुई, और वर्त्तमान गद्य का वास्तविक प्रारम्भ लल्लूलाल और सदल मिश्र के समय से हुआ। इसके पीछे से अब तक गद्य

बहुत ही सन्तोष जनक उन्नति करता आता है और करता जाता है। पद्य का प्रचार हमारे यहाँ पूर्वकाल से अब तक बहुत अच्छा रहा है। गद्य और पद्य में शब्दों का व्यवहार भी कुछ भिन्न है, क्योंकि पद्य में विशेषतया साहित्य सम्बन्धी शब्दों तथा भावों की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु गद्य में विशेषतया साधारण काम-काजवाले विषयों की रहती है। हमारे यहाँ के साहित्य में पूर्व-काल में शृङ्गार, धर्म तथा नृपयश-कीर्तन का आधिक्य रहा। इन विषयों से इतर वर्णन कम हुए हैं। नाटकों का कथन यहाँ कुछ-कुछ अनावश्यक है, क्योंकि उनके विषय साधारण पद्य विषयों से मिल जाते हैं।

अब हमारे यहाँ जैसे भावों का प्रयोग साहित्य एवं साधारण ग्रन्थों में सदा से होता रहा है, उनके व्यक्त करनेवाले शब्द तो खूब प्रचुरता से मिलते हैं किन्तु जो अनोखे भाव हमारे अनुभव-विस्तार से अब हमें ज्ञात हुए हैं उनके व्यक्त करने का सामर्थ्य हमारे शब्दों में हर अवस्था में नहीं है। आज-कल हमारा पाश्चात्य सभ्यता से मेलजोल हुआ है और उसके सहारे से संसार के शेष प्रदेशों का भी ज्ञान हममें दिनोदिन बढ़ रहा है। भारत से इतर पृथ्वी के सभी देशों के विचारों तथा सभ्यता का ज्ञान हमें दिनोदिन अधिकाधिक होता जाता है। उन नूतन भावों और दशाओं का वर्णन हिन्दी में होना आवश्यक है। जिससे केवल यही भाषा जाननेवाले भी संसार की सभ्यता का ज्ञान सुगमता-पूर्वक प्राप्त कर सकें।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह उन्नति हिन्दी में किस प्रकार आ सकती है। जहाँ तक समझ पड़ता है, इसके दो सुगम उपाय हैं, अर्थात् नवा-गत भावों से पूर्ण ग्रन्थों का निर्माण और नवभाव-समर्थक नवीन शब्दों का बनाना। जब तक नये भावों से पूर्ण ग्रन्थ प्रचुरता से नहीं बनेंगे, तब तक नम्र विचारों के व्यक्त करने की आवश्यकता का ही अनुभव हमारे लेखकों को न होगा। ऐसी दशा में समालोचक लोग उन लेखकों की सदैव निन्दा करते रहेंगे जो कि नवीन शब्दों तथा प्राचीन शब्दों के नवीन रूपों का व्यवहार करते हैं। इसका यहाँ एक उदाहरण भी दे देना ठीक समझ पड़ता है। हमारे मित्र ठाकुर गदाधरसिंह ने "चीन में तेरह मास" नामक एक ग्रन्थ रचा था।

उसमें चीनियों के विषय में उन्हें बहुत कुछ लिखना पड़ा, इसलिए चीन-निवासी का भाव उन्हें अनेक बार और अनेक भाँति से लाना पड़ा; सो हर बार चीनी लोग अथवा चीननिवासी लिखना उन्हें अच्छा न लगा, और विवश होकर इस भाव-प्रदर्शनार्थ उन्हें चीना शब्द गढ़ना पड़ा। चीनी शब्द शंकर का भी अर्थ देता है सो हर घड़ी ऐसे द्व्यर्थ बोधक शब्द के स्थान पर चीना शब्द का लिखना सभी लोग उचित समझेंगे।

एक ही भाव को अनेक प्रकार से तथा अनेक शब्दों में भी कहने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी दशा में पुनरुक्ति दूषण से बचने को यदि कोई लेखक शब्दों के अप्रचलित रूपों का व्यवहार करे तो किसी प्रकार का दोष नहीं समझना चाहिए। जैसे सूम शब्द संस्कृत का नहीं है, वरन् एक साधारण देशज शब्द है। यदि सूमपने के भाव को अनेकानेक सांस्कृत व्यवहारों से इतर लिखने में "सूमता" शब्द का प्रयोग किया जावे तो कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार अपने तथा बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपनाकर उनको अपने अन्य शब्दों के समान रूपों में लिखना उचित समझ पड़ता है, नहीं तो नवागत भावों तथा विचारों के यथावत् व्यक्त करने में कठिनता पड़ेगी। जहाँ बाहर का कोई शब्द हो और उसके भावबोधक अपना कोई अच्छा शब्द न देख पड़े, वहाँ बेधड़क उसका व्यवहार करे। कुल बातों का सारांश यह है कि भाषा के स्वाभाविक विकास को कृत्रिम नियमों से न रोके।

बहुत लोगों का विचार है कि हिन्दू धर्म, हिन्दी भाषा और हमारा प्राचीन आर्यपन तभी तक स्थिर रह सकते हैं जब तक हर मार्ग की प्राचीन लीक प्रति वर्ष नवीन पहियों से गहरी होती जावे, अन्यथा नहीं। यही एक भारी भूल है जिसने सहस्रों वर्षों से हम लोगों को बड़ी हानि पहुँचाई है और अब भी पहुँचा रही है। यदि सूक्ष्मदर्शिता से देखा जावे, तो जिन कारणों से महमूद गजनवी और शहाबुद्दीन गोरी से क्षुद्र शत्रुओं ने भारत पर विजय पा ली, वे सब कारण किसी न किसी रूप में हम लोगों में अब तक प्रस्तुत हैं और अब भी हमें हानि पहुँचा रहे हैं। प्रत्येक नवीनता हमें हौवा जान पड़ती है और उसकी सूरत देखते ही हमारे रोयें खड़े हो जाते हैं। उसके औचित्य

एवं अनौचित्य पर विचार करना ऐसी दशा में हमारे लिए नितान्त दुःसाध्य हो जाता है। हम बराबर जानते हैं कि संस्कृत भाषा का व्याकरण मातृवध का दोषी है, क्योंकि उसी के कारण उसकी माता संस्कृत भाषा मृत भाषाओं में परिगणित हुई और आज तक उसकी यही दशा है। यदि हमारा संस्कृत व्याकरण ऐसा कठिन न होता कि बिना पूरे पच्चीस बरस तक घोखे कोई व्यक्ति "अशुद्धं किं वक्तव्यं" के दोष से बच सकता, तो हमें ऐसी अवांछनीय दशा आज दिन न देख पड़ती कि हमारे पूर्व पुरुषों की प्यारी संस्कृत एक मृतभाषा हो जाती और संसार में कहीं भी किन्हीं लोगों की मातृभाषा न रह सकती। फिर भी आजकल के प्राचीन विचाराश्रयी महाशयगण संस्कृत व्याकरण के यथासाध्य सभी आ सकनेवाले नियमों को हिन्दी के भावव्यंजकता-वृद्धिवाले गुण का यह परावलम्बन सबसे बड़ा शत्रु है। जिस काल से किसी भाषा का व्याकरण उचित से अधिक बल प्राप्त कर लेता है, उसी समय से उस हतभागिनी भाषा का स्वाभाविक विकास बन्द हो जाता है और वह मृतभाषा बनने के मार्ग पर धावित होती है। इसलिए व्याकरण माहात्म्य ह्रास भी भावव्यंजकता की वृद्धि के लिए आवश्यक है। बिना इसके भावव्यंजकता किसी दशा में बढ़ नहीं सकती।

भावव्यंजकता का एक कृत्रिम सहायक भी हो सकता है जिसके लिए सम्मेलन को प्रयत्न करना चाहिए। मेरा तात्पर्य विज्ञान, दर्शनादि सम्बन्धी कोष से है। हिंदी में एक ऐसा कोष बनाना चाहिए, जिसमें अनेकानेक विद्याओं के शब्दों का हिन्दी में शब्द प्रति शब्द अनुवाद हो। यह काम काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने कई अंशों में सम्पादित करके हिन्दी पठित समाज का प्रचुर उपकार किया है। फिर भी प्रत्येक आरम्भिक श्रम का फल पूर्ण प्रायः नहीं होता है। इसी अटल नियमा-नुसार इस कोष में गणना और उत्तमता में शब्द आवश्यकता से कुछ कम हैं। अनुवाद बहुत स्थानों पर तो बड़े मार्के के हैं किन्तु कहीं कहीं कुछ भद्दे भी हो गये हैं। इस कोष के आकार, उत्तमता तथा ढङ्ग को उचित उन्नति देनी सम्मेलन तथा हिन्दी-रसिकों का कर्त्तव्य है।

संसार में सभी बातें प्राकृतिक नियमानुसार चलती हैं। जैसी जैसी आवश्यकतायें लोगों को होती जाती हैं, वैसी वस्तुओं की उन्नति इनमें आप से आप होती जाती है। हमारे यहाँ जब तक हमारा योरप से संघट्ट नहीं हुआ था, तब तक शिल्प व्यापार की उचित उन्नति नहीं हुई थी। अब भी यह उन्नति हुई नहीं है, किन्तु अब हमारी आँखें खुल रही हैं। इसलिए भाँति भाँति के नवागत भावों और विचारों के व्यक्त करने की हमें आवश्यकता पड़ी है और पड़ती जाती है। जिन लोगों ने अब तब ऐसे भावों को नहीं जाना है उनको इस लेख के विषय पर ही कुछ आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि उन्होंने हिन्दी में भावव्यंजकता की कमी का ही अनुभव नहीं किया है। इस-लिए सांसारिक उन्नति भी भावव्यंजकता की आवश्यकता दिखलाकर हमारी भाषा की उन्नति करेगी। यदि स्कूलों, कालेजों आदि में भूगोल, खगोल विज्ञान, दर्शन आदि के विषय हिन्दी में पढ़ाये जाने लगें, तो हमारी भाव-व्यंजकता की भारी वृद्धि हो सकती है क्योंकि तब ऐसे नये ग्रन्थ प्रचुरता से अवश्य बनने लगेंगे। सब बातों का निचोड़ यह है कि हिन्दी की भावव्यंजक देशोन्नति और स्वदेश प्रेम के साथ बढ़ेगी।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[लेखक—बाबू श्यामसुन्दरदास]

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थ-कता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्ध है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास

हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके निर्लीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख से प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सब का अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढङ्ग के दुःखान्त नाटक इसी लिये नहीं देख पड़ते। यदि आज-कल दो चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुंच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

> भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
> बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
> राम राम भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगतविजई है।
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनन्द की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते

हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है; परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखने वाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखलाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि पञ्जर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं, तथा आनन्द-स्वरूप हैं। बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा मायजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहिचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों

तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई, परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो साम्प्रदायिक कविता नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण"

का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृङ्गारी कवियों के रूप में। हिन्दी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलम्बन मानकर हमारे शृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृङ्गारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बसते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लम्बे लम्बे पेड़ों में सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कलकल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की बसंत श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में

सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्सम्बन्ध सौन्दर्यज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कवि-गण बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उसमें भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तर कालीन विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द संघटन अथवा छन्द रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नाम भेद हुए हैं परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अन्तर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीतिकाव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्व-पूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छन्द समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार

करना सम्भव नहीं और दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

श्रीबाणभट्ट

[लेखक—पं० पद्मसिंह शर्मा]

संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट एक अद्वितीय महाकवि थे, जिनके विषय में "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वं" यह कहावत प्रसिद्ध है। संस्कृत-साहित्य के विधाता एक से एक बढ़कर महाकवि हुए हैं। संस्कृत-साहित्य अपार महासागर है। संसार की किसी नई-पुरानी भाषा का साहित्य, दर्शन और साहित्य विषय में, शायद ही संस्कृत भाषा की प्रतिद्वन्द्विता के लिए सफलतापूर्वक सिर उठाने में समर्थ हो सके। संस्कृत-साहित्य का पद्य भाग बहुत ही विस्तृत है। संस्कृत कवियों ने इतिहास, गणित, ज्योतिष, कोष और वैदिक जैसे रूखे-फीके विषयों को भी पद्य की जन्तरी में खींचकर रमणीय, हृदयाकर्षक और पठनीय बना दिया है। यह बात किसी और भाषा में न मिलेगी। निःसन्देह संस्कृत का पद्य भाग सर्वतः सम्पूर्ण और परम प्रशंसनीय है; पर साथ ही गद्य भाग नहीं के बराबर नगण्य है। साहित्य तुला के इस पलड़े को अकेले बाण ने ही अपने गुण-गौरव से झुकाया है। संस्कृत में गद्य भाग के कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं सही, पर वह पासंग के बराबर हैं। इस मैदान के मर्द एकमात्र बाण ही हैं, इसमें तनिक भी अत्युक्ति या अतिशयोक्ति नहीं।

गद्य की विरलता का कारण

जिस भाषा के साहित्य में पद्य की इतनी प्रचुरता हो, उसमें गद्य की इस प्रकार की विरलता वास्तव में खटकने वाली बात है। गद्य-काव्य की कमी के कारणों का विचार विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया है, अनुमान के

मैदान में कल्पना के घोड़े बगटुट दौड़ाए हैं। पाश्चात्य परीक्षकों का और उनके अनुयायी भारतीय समीक्षकों का कहना है कि संस्कृत भाषा कभी व्यवहार की भाषा नहीं रही, इसीलिए इसमें गद्य का अभाव है। गद्य की अधिकता उसी भाषा के साहित्य में होती है जो सर्वसाधारण के नित्य व्यवहार की भाषा है। उनका मत है कि भारत की आदि और प्राचीन भाषा प्राकृत थी। सब कार्य-व्यवहार उसी में होते थे, उसी को सुधार सँवार कर संस्कृत गढ़ी गई है। भाषा का 'संस्कृत' नाम भी इसी मत की पुष्टि करता है—"सम्यक कृतं परिष्कृतम् संस्कृतम्" अर्थात् अच्छे प्रकार परिष्कृत की हुई भाषा। जो चीज़ पहले विकृत हो, वही साफ़ करके संस्कृत की जाती है।

प्राचीन भाषा प्राकृत है या संस्कृत, यह एक भिन्न विवादास्पद विषय है। इस पर पहले भी और अब भी बहुत कुछ विचार हो चुका है। संस्कृत बिगड़ कर प्राकृत बनी है, यह बात अनेक विचारशील विद्वानों ने युक्ति प्रमाण द्वारा सिद्ध कर दी है। प्राकृतवादी जिस प्रकार 'संस्कृत' शब्द की निरुक्ति से संस्कृत को प्राकृत से निकली हुई भाषा सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार संस्कृत के पक्षपाती यही बात प्राकृत पद की निरुक्ति से साबित करते हैं—'प्राकृत-चन्द्रिकाकार' का कथन है—"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।" अर्थात् प्रकृति (मूल) संस्कृत है, उससे उत्पन्न होने के कारण 'प्राकृत' नाम पड़ा है। 'शब्दशासनानुवृत्ति' में भी यही लिखा है—"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतम्" संस्कृतानन्तरं प्राकृतमभिधीयते। अर्थात् संस्कृत पीछे प्राकृत का नम्बर है। कात्यायन और श्रीचण्ड ने भी इस सूत्र में इसी ओर इशारा किया है—'तस्मात्संस्कृतवद् विभक्तयः' संस्कृत के समान ही प्राकृत में विभक्तियों का व्यवहार होता है।

प्राकृतवादियों की इस युक्ति में भी कुछ सार नहीं है कि प्राकृत को सुधार कर संस्कृत रची गई है, इसीलिए उसका नाम संस्कृत है। ऐसे बहुत से पदार्थ हैं, जो स्वभाव से ही परिष्कृत—संस्कृत हैं। गंगाजल स्वभाव से ही स्वच्छ और निर्मल है। गंगाजल स्वच्छ है, ऐसा कहने पर यह कोई नहीं कह सकता कि गंगाजल फिल्टर किया गया है और इसलिए उसे 'स्वच्छ' विशेषण दिया

गया है। भिन्न भाषाओं के शब्दसांकर्य से सुरक्षित—अमिश्रित रहने के कारण ही भाषा का 'संस्कृत' नाम रखा गया है।

संस्कृत में गद्यकाव्य की कमी का कारण जो यह कहा जाता है कि वह कभी व्यवहार की भाषा नहीं थी, या संस्कृत 'मृतभाषा' है, यह तो नितान्त उपहासनीय हेत्वाभास है। सर्वसाधारण अशिक्षित जन समुदाय के व्यवहार की भाषा संस्कृत चाहे न भी रही हो, पर प्राचीन भारत के शिक्षित समाज और राजदरबार की भाषा संस्कृत अवश्य रही है। इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं, यह तो प्रमाणसिद्ध सर्वसम्मत सत्य है। व्यवहार की भाषा न होने की कल्पना के लिए गद्य की कमी की दलील इसलिए भी कमज़ोर है कि बहुत सी ऐसी भाषाएँ हैं, जो व्यवहार की भाषा थीं, फिर भी उनके पुराने साहित्य में गद्य का अभाव है। फ़ारसी भाषा फारस (ईरान) में व्यवहार की राष्ट्रीय भाषा थी, और आज भी है; पर उसका प्राचीन साहित्य भी गद्य से शून्य है। फ़ारसी भाषा के इतिहास लिखनेवाले 'आज़ाद', आदि विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं। भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उर्दू को ही लीजिये, इनका प्राचीन साहित्य-भण्डार भी गद्य से खाली ही है। हिन्दी और उर्दू में गद्य का प्रचार बहुत थोड़े समय से हुआ है। प्राचीन गद्य के जो बिखरे हुए अस्फुट नमूने मिलते हैं, वह न होने के बराबर हैं, तो क्या हिन्दी और उर्दू भी व्यवहार की भाषा नहीं थीं या नहीं हैं। हिन्दी या उर्दू सैकड़ों वर्षों से व्यवहार की भाषा हैं, फिर भी इनका प्राचीन साहित्य गद्य से शून्यप्राय है। संस्कृत भाषा को नवीन विमर्शक या संशोधक व्यवहार की भाषा नहीं मानते, यही नहीं उसे 'मृतभाषा' कहते भी नहीं सकुचाते और इसी आधार पर उसमें गद्य का अभाव बताते हैं, यह निरा भ्रम या विद्वेषमूलक पक्षपात है। जिन भाषाओं को व्यवहार की भाषा मानने से इनकार नहीं किया जा सकता, जैसे फ़ारसी इत्यादि उनके प्राचीन साहित्य के गद्य के मुकाबले में संस्कृत के प्राचीन साहित्य में कहीं अधिक सुन्दर गद्य विद्यमान है। उपनिषदों ही को देखिए, कितना सरस, स्वाभाविक, ललित, मधुर, गम्भीर और प्रसन्न गद्य है। पढ़कर तबीयत फड़क जाती है। यह दावे

से कहा जा सकता है कि उपनिषदों के सदृश मनोहर गद्य किसी भी प्राचीन भाषा के साहित्य में नहीं है। फिर जिस भाषा का साहित्य इतना समृद्ध और सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो, उसके विषय में यह कहना कि यह व्यवहार की भाषा नहीं है, या नहीं थी, वदतो व्याघात है। यदि कोई भाषा व्यवहार के उपयुक्त नहीं है, तो वह 'भाषा' ही नहीं है, उसे भाषा कहना ऐसा ही है, जैसा 'अनुष्ण अग्नि' या 'गन्धहीन पृथ्वी'। अपने आशय को वाणी के व्यवहार द्वारा दूसरों तक पहुँचाने के साधन का नाम ही तो भाषा है; अन्य भाषाओं के समान संस्कृत में भी यह गुण पूरी मात्रा में मौजूद है। जब कभी यहाँ संस्कृत का साम्राज्य था, उस समय को जाने दीजिये। आज इस युग में भी मलावार का विद्वान् काशी के पंडित से संस्कृत के द्वारा सुगमता से व्यवहार करता है। पेशावर का रहनेवाला संस्कृतज्ञ बंगाली संस्कृतज्ञ से इसी भाषा के सहारे अपना काम चला लेता है। क्या इसका नाम व्यवहार नहीं है? संस्कृत भाषा 'मृतभाषा' नहीं, यह 'अमरभाषा' है। जिसके बोलने और समझनेवाले, पढ़ने और पढ़ानेवाले आज भी लाखों हैं, उसे 'मृतभाषा' कहना ऐसा ही है, जैसे भारतवासियों को स्वराज्य के अयोग्य बताना, या सिन्धु को सूखा सरोवर कहना! जो लोग 'देवभाषा' (संस्कृत) को मृतभाषा कहते हैं, उन्हें स्वर्गीय कवि श्री महेशचन्द्र ने इन पद्यों में समुचित, पर मुँहतोड़ उत्तर दिया है—

ये तु केचिदिमां दिव्यां भारतीममृतामपि।
मृतां वदन्तो निन्दन्ति दूरात् परिहरन्ति च।
मूढास्ते पण्डितम्मन्या बालास्ते वृद्धमानिनः।
अन्धास्ते दृष्टिमन्तोऽपि प्रासा गजनिमीलिकाम्।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति ते हि ब्राह्मीमितस्ततः।
अद्यापि ब्राह्मणमुखे नृत्यन्तीं रुचिरैः पदैः।
यावदास्ते त्रयीलोके चतुर्मुख-मुखाद्गता।
यावद्वा रामचरितं वाल्मीकिकविनिर्मितम्।
क्षरन्त्यमृतधारा वा यावद् व्यासस्य सूक्तयः।
वाग्देव्यावरपुत्रस्य कालिदासस्य वा गिरः।

तावदेषा 'देवभाषा' देवी स्थास्यति भूतले।
यावच्च वंशोऽस्त्यार्याणां तावदेषा ध्रुवं ध्रुवा।

अर्थात्—जो इस दिव्यभारती अमर भाषा को मृत कहकर निन्दा करते हैं, और इससे दूर भागते हैं, पंडितम्मन्य मूर्ख हैं; वृद्धमानी हैं, पर बालक हैं; आँखें रखते हैं, पर अन्धे हैं; मस्त हाथी की तरह देखा अनदेखा कर जाते हैं; आज भी विद्वान् ब्राह्मणों के मुख में रुचिर पदविन्यास से नृत्य करती हुई—इधर उधर विचरती हुई भी इस ब्राह्मी वाणी को वह नहीं देखते। जब तक संसार में वेदत्रयी विद्यमान है, जब तक वाल्मीकि की रामायण और अमृतवर्षा करती हुई व्यास की रचना (महाभारत आदि) तथा सरस्वती की सुसन्तान कालिदास की कविता मौजूद है, अधिक क्या जब तक आर्य जाति वर्तमान है, तब तक संस्कृत भाषा भी रहेगी। यह कभी मर नहीं सकती।

संस्कृत में गद्य का अभाव न इस कारण है कि वह कभी व्यवहार की भाषा नहीं थी, और न इसलिए कि वह एक 'मृतभाषा' है। संस्कृत में भी गद्य के अभाव का वही कारण है, जो दूसरी उल्लिखित भाषाओं में है। बात यह है कि साहित्य कल्पनाकुशल, सरस और सन्तुष्ट चित्त का प्रतिबिम्ब होता है। जब मनुष्य के हृदय में आनन्द की लहर उठती है, तो अनायास एक उच्छ्वास निकलता है। उसके साथ ही कहनेवाला गुनगुनाने लगता है। भले ही वह गाना न जानता हो, स्वर बुरा हो या भला हो, मच्छर के भिनभिनाने का अनुकरण हो या तन्त्रीनाद का। साहित्य के साथ संगीत की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इसी लिए रूपक के रूप में साहित्य और संगीत सरस्वती माता के दो स्तन कहे गये हैं—"संगीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।" जब यह बात है, तो असाधारण कल्पनाकुशल प्रतिभाशाली आर्य कवियों के हृदय का हर्षोल्लास पद्य-प्रणाली को छोड़कर गद्य के साँचे में क्यों ढलकर निकलता ! श्रवणसुखद संगीत के साथ टक्कर क्यों न लेता ! गद्य तो संगीत से मेल नहीं खाता और संगीत का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। जब एक ही निशाने में दो लक्ष्यों का वेध हो सकता हो, तो

यह प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। फिर साहित्य-संगीत के समवेत रूप में उसका प्रचार भी सुलभ है। कवि केवल स्वान्तः सुखाय कविता नहीं करता, उसका मुख्य उद्देश्य यशोलिप्सा होती है। वह चाहता है कि उसके काव्य का प्रचार हो, जिससे उसके यश का प्रसार हो। इसी कारण काव्य के प्रयोजनों में पहला स्थान यशःप्राप्ति को दिया गया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अशुभनिवृत्ति, परमानन्दलाभ और मनोहारी उपदेश—यह सब प्रयोजन यश के पीछे गिनाये हैं।

गद्य गाया नहीं जा सकता, इसलिए वह याद भी नहीं हो सकता, और फिर प्रचार भी नहीं पा सकता। पद्य की प्रधानता का यही कारण है कि वह गाया जा सकता है, अतः सुगमता से याद भी किया जा सकता है। इस प्रकार सर्वसाधारण में प्रचारित होकर वह कवि के यश का प्रसारक बन जाता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है, और वह इससे भी अधिक पद्य की प्रवृत्ति का उत्तेजक है। पद्य में कवि की असमर्थता को छिपाने का साधन छिपा रहता है, उसमें बँधी गत बजाने से काम चल जाता है। एक असमर्थ पद का, किसी अनुचित शब्द का, प्रयोग पद्य में इसलिए क्षन्तव्य समझ लिया जाता है कि छन्द में वही फिट बैठता है, उसका दूसरा पर्याय रखने से छन्द बिगड़ता है। (निःसन्देह कालिदास आदि सिद्ध कवियों के काव्य इसके अपवाद हैं, फिर भी अधिकांश पद्य-रचना के सम्बन्ध में यह सत्य है।) संगीत की मनोहरता कविता के गुण-दोष पर सहसा ध्यान नहीं जाने देती, पदसन्निवेश के औचित्यानौचित्य पर दृष्टि नहीं पड़ने देती, श्रोता के कान और ध्यान लय-स्वर के साथ पढ़ी जानेवाली कविता के गान में तल्लीन होकर रह जाते हैं। आजकल की हिन्दी कविता इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। भद्दी से भद्दी और रद्दी से रद्दी कविता कवि-सम्मेलनों में गाई जाती है और श्रोताओं से साधुवाद का पुरस्कार पा जाती है। कवि महाशय उसी बात को यदि गद्य में कहने लगें, तो कोई सुनना भी पसन्द न करे, साधुवाद और दाद

की जगह "रहने दो" "बैठ जाओ" सुनना पड़े। फिर पद्य के प्रबन्ध में सौ-पचास पद्यों में दस-पाँच पद्य भी अच्छे निकल आये, तो काम चल जाता है, किसी पद्य का एक चरण भी चमत्कृत बन गया, तो शाबाशी मिल जाती है, एक अलंकार भी सारे पद्य का मज़ा देता है, उसी से 'पद्य बहुत बढ़िया है' का सार्टिफिकेट मिल जाता है। भले ही तीन चरण लँगड़े हों—भरती के, चमत्कार शून्य हों। यह आसानी गद्य में नहीं हो सकती। गद्य का एक विशेषण भी प्रबन्ध के अनुरूप न हुआ, एक शब्द भी अनुचित हुआ, एक पद भी बेमौक़े बैठ गया, तो सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है, सुनते ही खटकने लगता है। सफेद कपड़े का एक धब्बा भी दूर से दिखाई दे जाता है। गद्य-प्रबन्ध की एक भी भूल सारे सौष्ठय पर धूल डाल देती है, बने बनाये खेल को बिगाड़ देती है, साथ के अगले पिछले सुन्दर शब्दविन्यास की शान को भी बट्टा लगा देती है। गद्य की शिथिलता पर परदा डालने के लिए कवि के पास कोई बहाना नहीं हो सकता। वह छन्दोभंग से बचने की आड़ में अपने ऐब को नहीं छिपा सकता। उसके सामने मैदान खुला हुआ है, जितना दम हो, कल्पना के घोड़े दौड़ा सकता है; चुन-चुनकर बढ़िया शब्द रख सकता है, उसे पूरी स्वतन्त्रता है। वास्तव में गद्य की रचना पद्य की अपेक्षा कहीं कठिन है, इसी कारण विवेकी विद्वानों ने कहा है—'गद्यं कवीनां निकषं वदति।" अर्थात् 'गद्य-रचना काव्य-सुवर्ण के परखने की कसौटी है।' खरी खान का सोना ही उसकी रगड़ पर चमककर परीक्षक को लुभा सकता है। सुवर्ण में थोड़ी भी मिलावट हो, तो उसका मूल्य घट जाता है—भाव गिर जाता है। ऐसी दशा में पद्य के साफ़ सुथरे सुगम मार्ग को छोड़कर गद्य के विषम दुर्गम पथ में पाँव रखना किसी साहसी पुरुष का ही काम है। जिस मार्ग में जितनी सुगमता हो, सर्वसाधारण उसे उतना ही अधिक पसन्द करते हैं; जिस रास्ते में पद-पद पर भटकने का भय और ठोकर खाने का डर हो, उस पर चलकर झंझट में पड़ना कौन पसन्द करेगा? गद्य-मार्ग के अवरोध की दुर्गमता—विषमता—ही प्रधान कारण है। इनेगिने दो-चार ही कवि इस पर चलने का साहस कर सके हैं। उनमें भी सफलता केवल बाणभट्ट को ही प्राप्त हो सकी

है, नहीं तो सब रास्ते ही में रह गये—

थक-थक के हर मुकाम पै दो-चार रह गये;
आगे न चल सकें तो लाचार क्या करें।"

(अपूर्ण)

साहित्य का स्वरूप

[लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल]

साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से—रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि तक से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह आवश्यक है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्यभूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा बहुत रहता है, जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाये मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भावव्यंजक या चमत्कार विधायक अंश पर्याप्त होता है, फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम

करानेवाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ अर्थ-बोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आयेगा और चाहे जहाँ जाय।

इस दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र के भीतर आने वाली रचनाओं के तीन रूप तो हमारे यहाँ पहले से मिलते हैं—श्रव्य-काव्य, दृश्य-काव्य और कथात्मक गद्य-काव्य। इनमें से पहले दो तो अब तक ज्यों के त्यों बने हैं। कथात्मक गद्य-काव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने लिया है। चौथा रूप काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख। पाँचवाँ है वह विचारात्मक निबन्ध या लेख जिसमें भावव्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार भी हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चारों प्रकार की कृतियों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो। काव्यसमीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य-कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसन्धान-क्रम या विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्ति-गत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हैं। इस प्रकार मेरे विचार के विषय ठहरते हैं—काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबन्ध, जिसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित है।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिणाम में ही नहीं, उसकी शासन-विधि में भी भेद होता है। कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्रासी और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप रंग बनाकर नाचती हुई दिखलाई पड़ती है। अपना खास काम लुक छिपकर करती है। कहीं इतना कोमल होता है कि वह अपना पहला काम खुलकर करती हुई भाव का कार्य साधन करती है। और अच्छी तरह करती है। भाषा असल काम यह है कि वह प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-योग द्वारा ही या तात्पर्य्य वृत्ति द्वारा ही पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराये। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है जो बाधित असम्भव, असंगत या असम्बद्ध होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार का साधन मात्र होती है। उसका

वस्तुज्ञापन-कार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, सम्भव या अव्याहत हैं। बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बढ़े चढ़े रूप में व्यंजित करते हैं। अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरञ्जन करते हैं। ऐसे अर्थ विधान की सम्भावना काव्य में सबसे अधिक होती है। पर यह न समझना चाहिये कि काव्य-अर्थ सदा इसी सक्रमित, अधीन दशा में ही पाया जाता है। बहुत सी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण कवितायें ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रंगरूप नहीं बनाती; अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भावव्यञ्जना या चमत्कार के लिये स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच बीच में भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिये अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा। यह ठीक है कि पश्चिम में कुछ कवियों ने (नाटककारों ने नहीं) केवल कल्पना की उड़ान दिखाने वाले नाटक लिखे हैं, पर वे शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं लिये जाते। यही बात मन की भावनाओं या विकारों को मूर्त रूप में—पात्रों के रूप में—खड़े करने वाले नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

आख्यायिका या उपन्यास के कथा-प्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्रकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबाने वाले भाव-विधान या उक्ति-वैचित्र्य के लिये और थोड़ा स्थान बचता है। उपन्यास में मन बहुत कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं। पात्रों द्वारा भावों की लम्बी चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती। काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही हैं। अतः रचनाभेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में

ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है। अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।

उपर्युक्त चारों रचनाओं में कल्पना-प्रसूत वस्तु या अर्थ की प्रधानता रहती है। शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबन्ध में विचार प्रसूत अर्थ अंगी होता है। और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबन्ध अर्थ-प्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित होता है। अर्थ के साथ मिला जुला रहता है। और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।

साहित्य के अन्तर्गत आनेवाली पाँचों प्रकार की रचनाओं का आभास देकर अब मैं सबसे पहले काव्य को लेता हूँ जिसकी परम्परा सभ्य, असभ्य सब जातियों में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों द्वारा बोध करना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह "योग्यता" उपपन्नता या प्रकरण-संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है। और 'योग्य' अथवा प्रकरण संबद्ध अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं हो तो तो वह वाक्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। यदि किसी लड़की को दिखाकर कोई किसी से कहे कि "तुमने इस लड़की को काटकर कुएँ में डाल दिया" तो सुनने वालों के मन में इस वाक्य का अर्थ सीधे न धँसेगा, वह एकदम असम्भव या अनुपयुक्त जान पड़ेगा। फिर चट लक्षणा के सहारे वे इस अबाधित या समझ में आने

वाले अर्थ तक पहुँच जायँगे कि "तुमने इस लड़की को बुरे घर में ब्याह करके अत्यन्त कष्ट में डाल दिया"। इसी प्रकार गरमी से व्याकुल लोगों में से कोई बोल उठे कि 'एक पत्ती भी नहीं हिल रही है' तो शेष लोगों को शायद पहले यह कथन नितान्त अप्रासंगिक जान पड़े, पर पीछे वे व्यंजना के सहारे कहने वाले के इस सुसंगत अर्थ तक पहुँच जायँगे कि 'हवा बिलकुल नहीं चल रही है।' इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।

व्यंजना के सम्बन्ध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यंजना दो प्रकार की मानी गई है—वस्तु-व्यंजना और भावव्यंजना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तु-व्यंजना कहलाती है और किसी भाव की व्यंजना भाव-व्यंजना। (जब किसी रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रसव्यंजना कहलाती है।) यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तुव्यंजना किसी तथ्य या वृत्त को बोध कराती है, पर भावव्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियायें हैं। पर साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है। अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है' 'अमुक क्रोध कर रहा है'। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि "अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है" स्वयं क्रोध या रतिभाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रसव्यञ्जना इस रूप में मानी भी नहीं गई है।

अतः भावव्यंजना या रसव्यंजना वस्तुव्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रसव्यंजना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर 'वृत्ति-विवेक' कार महिम भट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि 'व्यंजना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। विचार करने पर वस्तुव्यंजना के सम्बन्ध में भट्ट जी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रसव्यंजना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचकर कि "अमुक के मन में प्रेम है या क्रोध है" उन्हें फिर इस ज्ञान को "आस्वाद पदवी" तक पहुँचाना पड़ा है। इस "आस्वाद पदवी" तक इत्यादि का ज्ञान किस प्रक्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर लेना चाहिए। या तो हम भाव या रस के सम्बन्ध में "व्यंजना" शब्द का प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में। शब्दशक्ति का विषय बड़े महत्व का है। वर्त्तमान साहित्य-सेवियों को इसके सम्बन्ध में विचार-परम्परा जारी रखनी चाहिये। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिये यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

भीष्माष्टमी[1]

[लेखक—बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन]

हमारे पाठक कदाचित् जानते होंगे कि गत रविवार को भीष्माष्टमी थी। यह वह दिवस था जिस दिन कुरुक्षेत्र की रणभूमि में शरशय्या पर लेटे हुये पितामह भीष्म जी ने अपनी इच्छा से अपने शरीर का त्याग किया था।

संसार के इतिहास में महात्मा भीष्म के समान दूसरा चरित्र मिलना कठिन है। यदि समानता दिखलाई भी पड़ेगी तो केवल भारतवर्ष के इतिहास

---

[1]माघ शुक्ल १२ सं० १९६४ के "अभ्युदय" पत्र से उद्धृत।

में। घोर-संग्राम और भी स्थानों में हुये हैं। यूरुप में यूनान देश और ट्राय देश के रहनेवालों की लड़ाई प्रसिद्ध है। परन्तु भारतवर्ष के वीरों और यूनान और ट्राय के वीरों में बड़ा ही अन्तर है। ऐकिलीज़, हेक्टर, यूलिसीज़, एजक्स और ऐगे मेमनान अवश्य बड़े वीर और पराक्रमी थे, परन्तु उनकी तुलना भीष्म, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के साथ करना इतिहास के मर्मों को एकबारगी भूलना है। भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और यूनान की प्राचीन सभ्यता दोनों में बहुत ही बड़ा भेद था। वही भेद भारतवर्ष के वीरों और यूनान के वीरों के कर्मों में है।

यूरुप के आधुनिक इतिहास की तो चर्चा ही क्या! आधुनिक इतिहास में उस विचित्र और पवित्र चरित्र का चित्र मिलना असंभव ही है, जिसकी कीर्ति की कुछ छटा उसकी संतान को दिखलाने के लिये आज हमने लेखनी उठाई है।

भारतवासियों के लिये महात्मा भीष्म के चरित्र की चर्चा अमृत समान है। जितना ही अधिक वह उनका स्मरण करेंगे, जितना ही अधिक वह उनके उपदेशों को आँख खोल कर पढ़ेंगे, उतना ही अधिक बल और पुरुषार्थ उनमें आवेगा। देश की दशा को सुधारने और उसको फिर उस उच्च शिखर पर पहुँचाने में, जिस पर कि वह किसी समय में था, भीष्म जी का चरित्र हमारे लिये आदर्श रूप है। पितृ-भक्ति, प्रतिज्ञा-पालन, सत्य, धर्मपरायणता, शूरता, निर्भयता, देशभक्ति इन गुणों में कैसी अच्छी शिक्षा हमें भीष्म जी के चरित्र से मिलती है। इन्हीं गुणों से देश का, जाति का और भारतवासियों का उत्थान सम्भव है। इसी कारण से उन्हें भीष्म जी के चरित्र पर, जितना अधिक हो सके, मनन करना चाहिये।

भीष्म जी राजा शान्तनु के पुत्र थे। उनके पिता एक दिन आखेट के लिये जा रहे थे कि उन्होंने एक सुन्दर युवती को देखा, जिसे देख कर वे मोहित हो गये। यह सुन्दरी एक मल्लाह की पुत्री थी। राजा शान्तनु ने उस मल्लाह से उसकी पुत्री के साथ विवाह करने की इच्छा प्रगट की। परन्तु उस मल्लाह ने यह उत्तर दिया कि वह राजा के साथ अपनी पुत्री का विवाह

केवल इस शर्त पर करेगा कि उससे जो पुत्र उत्पन्न हो वही राज्य का उत्तराधिकारी हो। राजा शान्तनु को भीष्म बहुत ही प्रिय थे और वे बड़े पुत्र थे, इस कारण से उन्होंने यह प्रतिज्ञा करना स्वीकार न किया। परन्तु उस सुन्दरी के मोह में, जिसका नाम सत्यवती था, वे दिन दिन दुर्बल और पीले पड़ते गये।

पिता की यह दशा देखकर भीष्म को चिन्ता हुई और इस रोग का कारण खोजने पर उन्हें वास्तविक बात मालूम हुई। भीष्म तुरन्त ही उस मल्लाह के पास गये और उससे उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि सत्यवती से जो पुत्र होगा वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा, मैं उत्तराधिकारी न हूँगा।

मल्लाह ने यह बात तो मान ली परन्तु फिर यह कहा कि "तुमने अपने सम्बन्ध में तो प्रतिज्ञा कर ली कि तुम राज्य न लोगे परन्तु यदि तुम्हारे पुत्र हुए और उन्होंने राज्य छीन लिया तब हम क्या करेंगे?" इस बात को सुनकर भीष्म ने उसी समय यह कठिन प्रतिज्ञा की कि "हम आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे, तू अपनी पुत्री का विवाह पिता जी के साथ कर दे।"

पितृभक्ति का कैसा अच्छा उदाहरण हमको इससे मिल रहा है। परन्तु इस प्रतिज्ञा करने से भी बढ़कर प्रतिज्ञा पालन करने की रीति थी। जिस भाँति भीष्म ने सत्यवती के पुत्रों की रक्षा और उनके साथ स्नेह किया वह हमें प्रतिज्ञा-पालन की उत्तम शिक्षा दे रहा है। सत्यवती ने अपने पुत्रों के मरने पर स्वयं भीष्म से बहुत अनुरोध किया कि वह वंश चलाने के लिये अपना विवाह करें परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ भीष्म की प्रतिज्ञा नहीं टल सकती थी। एक बार जो व्रत किया, मृत्यु के दिन तक निबाहा, राज्य रहे चाहे न रहे, वंश चले या न चले, वीर भीष्म की प्रतिज्ञा अटल है। उसका तोड़ना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

पाठकगण, अब आप महाभारत का दूसरा चित्र अपनी आँखों के सामने खींचें जब कि वृद्ध भीष्म संग्राम-भूमि में अजेय रथ पर चढ़े सूर्य के समान प्रकाशमान हो रहे हैं और क्षत्रीधर्म का निर्वाह करते और बाणों की वर्षा करते पाण्डवों की सेना का संहार कर रहे हैं। महाभारत को आरम्भ

हुए नव दिवस व्यतीत हो चुके हैं। नव दिवस से वह रोमहर्षण संग्राम जिसमें अन्तिम बार भारतवर्ष के प्रचण्ड वीरों का महत्व दिखाई पड़ा था, बराबर हो रहा है। कुरुक्षेत्र की भूमि रुधिर की नदियों से रक्त-वर्ण हो गई है। मांस और हड्डियों का विकट दृश्य आँख के सामने उपस्थित है। कायर अपने तुच्छ जीवन के मोह में पड़े भयभीत हो भाग रहे हैं, अपने क्षत्रीधर्म में दृढ़ शूरवीर शंखनाद और धनुष की टंकार के शब्दों से उत्तेजित हो इस असार संसार को और अपने नाशमान जीवन को धर्म के आगे तुच्छ समझते हुए उस घोर युद्ध में मुदित हो हो कर प्रवेश कर रहे हैं, जहाँ पितामह भीष्म ने अपने बाणों से मंडल बाँध अर्जुन के रथ को ढांक दिया है और यहाँ वीर अर्जुन अपने तीक्ष्ण बाणों से भीष्म जी के हाथ में लिए हुये धनुषों को काट काट कर गिरा रहे हैं और भीष्म जी अपने शिष्य की हस्तलाघवता की प्रशंसा कर प्रसन्न हो रहे हैं।

भीष्म जी ने दुर्योधन को महाभारत आरम्भ होने से पहले बहुत समझाया था परन्तु उसके न मानने पर और उसकी ओर युद्ध करना अपना धर्म जान-भीष्म जी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं दस सहस्र पाण्डवों के योद्धाओं को मारूँगा। आज वे उसी कठिन प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं। युधिष्ठिर की सेना में आज प्रलय मच गया है। जिसी ओर पितामह के रथ और बाण जाते हैं उसी ओर योद्धाओं की लोथें दिखलाई पड़ती हैं। पाण्डवों की सेना भीष्म जी के प्रचण्ड तेज के सामने आज ग्रीष्म ऋतु के सूर्य से तप्त गौ के समान निःसहाय और निर्बल हो रही है।

ऐसी अवस्था में पाण्डवों के सहायी श्रीकृष्ण जी अर्जुन के रथ को छोड़ भीष्म के मारने के लिए सिंह के समान गर्जते क्रोध से दौड़े हैं। उनको अपनी ओर आते देखकर भीष्म जी हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि 'हे कृष्ण, हे यादवेन्द्र, आप आइये, आपको नमस्कार है। आप मुझे इस महायुद्ध में गिराइये। हे निष्पाप! मैं आपका निस्सन्देह दास हूँ, आप इच्छानुसार प्रहार कीजिये, आपके हाथों से मरना मेरा सब प्रकार कल्याण ही है।'

भीष्म जी हाथ जोड़कर प्रसन्नचित्त यह कह रहे हैं और दूसरी ओर से

अर्जुन श्रीकृष्ण के चरणों को पकड़ कर उन्हें उनकी उस प्रतिज्ञा की याद दिला रहे हैं कि "हम नहीं लड़ेंगे" और प्रार्थना कर रहे हैं कि "पितामह को मारना मेरा काम है, आप अपने प्रण की ओर ध्यान दीजिये।" इस प्रकार अर्जुन के स्मरण दिलाने पर श्रीकृष्ण फिर रथ पर चढ़ गये हैं और फिर अर्जुन और कृष्ण और पाण्डवों की समस्त सेना पितामह के शस्त्रप्रहार से घायल और पीड़ित हो रही है।

अब सूर्य अस्ताचल को चले गये हैं। दिन के परिश्रम से थकी हुई दोनों सेनायें अपने डेरों में विश्राम कर रही हैं। महाराज युधिष्ठिर के डेरे में सलाह हो रही है। युधिष्ठिर भीष्म जी के पराक्रम को देख निराश हो रहे हैं। अपनी सेना भीष्म के सामने निःसहाय देखकर श्री कृष्ण जी से कह रहे हैं कि "भीष्म जी का विजय करना महाकठिन और असम्भव है। मेरी सेना भीष्म जी के सामने पतिंगे के समान नष्ट हो रही है। मेरे शूरवीर प्रतिदिन भीष्म जी के हाथों से मारे जा रहे हैं, इस कारण से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरा कल्याण बन को चले जाने में ही है।"

इस बचन को सुनकर श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर को ढाढ़स दिया कि अर्जुन अवश्य भीष्म पितामह को मारेंगे, फिर युधिष्ठिर ने कहा कि "अच्छा चलो हम सब लोग भीष्म पितामह ही से पूछें कि वे किस रीति से मारे जा सकते हैं। यद्यपि वे दुर्योधन की ओर लड़ रहे हैं तो भी उन्होंने हम लोगों को युद्ध में सलाह देने का प्रण किया है। वे स्वयं अपने मरने का उद्योग बतावेंगे।"

श्रीकृष्ण जी और पाण्डवों ने भी यह बात स्वीकार की और सब मिलकर नम्रता के साथ पितामह के डेरे में गये। भीष्म जी ने आदर और स्नेह से उनको अपने पास बिठाया और उनके आगमन का कारण पूँछा। युधिष्ठिर ने अपने आने का कारण बताया और कहा कि "हम लोग आप में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं जानते, आप युद्ध में सदा धनुष मण्डल के समान दिखाई पड़ते हैं। हम लोग आपको धनुष चढ़ाते, बाण लेते, संधानते और फिर सूर्य के समान रथ पर चढ़ते हुये भी नहीं देख सकते हैं, अब किस पुरुष

की सामर्थ्य है जो आपको युद्ध में विजय कर सके, आपने अपने बाणों की वर्षा से युद्ध में प्रलय मचाकर मेरी बड़ी सेना का नाश किया है, अब जिस रीति से हम आपको युद्ध में विजय कर सकें और अपनी सेना बचा सकें सो हे पितामह ! आप हमको बताइये।"

इसके उत्तर में भीष्म जी ने कहा कि हे राजा ! तुम्हारी सेना में द्रुपद का बेटा, शूरवीर शिखण्डी नाम का है। जिस प्रकार से यह पहिले स्त्री था, फिर पुरुष हुआ, इसका वृत्तान्त तुम जानते हो। अर्जुन तीक्ष्ण बाणों को लिये हुये शिखण्डी को आगे करके मेरे सम्मुख जो आवें तो धनुष बाण हाथ में लिये हुए भी मैं उस पहिले स्त्री रूप रखने वाले पर किसी अवस्था में शस्त्र न चलाऊँगा। इस कारण यह उत्तम धनुषधारी अर्जुन उसी को मेरे आगे नियत करके मुझको मारे। निस्सन्देह तुम्हारी विजय होगी। युधिष्ठिर, तुम मेरे इस वचन का प्रतिपाल न करो।

धन्य हो वीर भीष्म ! यह तुम्हारे योग्य ही था कि सत्य का पालन कर स्वयं अपने मरने का उपाय बतलाया। धन्य है यह भूमि जो तुम्हारे समान साहसी सत्यव्रत और दृढ़प्रतीज्ञ वीर पैदा करे। तुम्हारे ही ऐसे पवित्रात्माओं के पुण्य से आज त्रैलोक्य स्थिर है, तुम्हारे ही ऐसे प्रभाव से संसार में आज भी कुछ धर्म दिखाई पड़ता है। और तुम्हारी कीर्ति की अजेय ध्वजा के नीचे आज भी भारतवासी यह यत्न कर रहे हैं कि बहुत दिनों के आलस्य के पाप का प्रायश्चित्त कर तुम्हारी सन्तान कहलाने के योग्य हों।

प्रातःकाल महाभारत का दसवाँ दिन आरम्भ हो गया है, पाण्डवों की सेना भीष्म जी के उपाय बताने के अनुसार शिखण्डी को आगे कर भीष्म पितामह के मारने के लिए उद्यत हो रही है। कौरवों के बड़े बड़े सैनिक द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, जयद्रथ, अश्वत्थामा आदि भीष्म पितामह की रक्षा में प्रवृत्त हैं। घोर संग्राम हो रहा है, दोनों ओर के सहस्रों वीर रणगंगा में स्नान कर अपने क्षत्री धर्म को निबाहते वीरगति या ब्रह्मलोक की यात्रा कर रहे हैं।

पितामह भीष्म भी धनुष की टनकारों से घोर शब्द करते हुये अपने बाणों से आकाश आच्छादित कर रहे हैं, परन्तु शिखण्डी के सम्मुख से हट

जाते हैं और उसके बाण सहते हुये उस पर शस्त्र नहीं फेंकते हैं। आज उन्होंने अपनी उस प्रतिज्ञा को जो उन्होंने दुर्योधन से की थी, पूरी कर दिया है। और अब इस हत्याकाण्ड से हटा चाहते हैं।

सन्ध्या का समय निकट है; सूर्य अस्ताचल को जाने ही वाले हैं। अर्जुन ने शिखण्डी की आड़ से लड़ते हुये भीष्म जी के अंगों में बाण ही बाण बेध दिये हैं। उनका कवच टुकड़े टुकड़े हो गया है। उनका शरीर भी शिथिल हो रहा है। भीष्म जी भी कह रहे हैं कि "जान पड़ता है कि ये सब बाण मुझे अर्जुन ही मार रहा है; क्योंकि न शिखण्डी के और न किसी के बाण मुझे इस प्रकार पीड़ा पहुँचा सकते हैं" तो भी टूटा ही कवच धारण किये वे लड़ रहे हैं और पाण्डवों की सेना विध्वंश करते हैं।

परन्तु बस अब अधिक बल नहीं रह गया। रथ के टुकड़े हो गये हैं और महात्मा भीष्म रथ पर से पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। परन्तु रोम रोम में धँसे शरों ने उन्हें आकाश ही में रोक लिया है। वे पृथ्वी तक पहुँचने नहीं पाये हैं और शरशय्या पर सच्चे वीर के समान पड़े हैं। महात्मा भीष्म के गिरते ही चारों ओर हाहाकार मच गया है। युद्ध बन्द हो गया है। कौरव और पाण्डव सभी कवच उतार और शस्त्र अलग धर महात्मा भीष्म के दर्शन के लिये दौड़ रहे हैं। उनके चारों ओर कौरव और पाण्डव आँखों में आँसू भरे उपस्थित हैं। भीष्म जी का शिर लटका हुआ है। इस हेतु उन्हें तकिये की आवश्यकता हुई है। राजा लोग बहुत कोमल तकिये उनके शिर के नीचे रखने को उप-स्थित कर रहे हैं। परन्तु उन तकियों को देखकर भीष्म जी कहते हैं कि "हे राजाओ! ये तकिये वीरों की शय्याओं पर शोभा नहीं देते"।

फिर अर्जुन को देखकर बोले—"हे बेटा अर्जुन! मेरा शिर लटकता है, तुम बहुत शीघ्र मेरे शयन के योग्य तकिया मुझे दे दो।" आँखों से आँसू बहाते हुये अर्जुन ने "जो आज्ञा" कहकर और पितामह का आशय समझ गांडीव धनुष को हाथ में ले तीन बाणों से भीष्म जी के लटकते हुये शिर को सीधा कर दिया। भीष्म जी अर्जुन से बहुत ही प्रसन्न हुये और उसकी प्रसंशा करने लगे।

इसी प्रकार शरशय्या पर पड़े भीष्म जी इस बात की प्रतीक्षा में हैं कि सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जायँ तब हम अपना शरीर छोड़ें। इसी शय्या पर से वे दुर्योधन और कर्ण को उपदेश दे रहे हैं कि इस देश नाशकारी संग्राम को मेरी ही मृत्यु के साथ बन्द कर देना चाहिये।

दुर्योधन और कर्ण के न मानने के कारण युद्ध बराबर हो रहा है। अन्त में कौरवों को जय कर युधिष्ठिर ने राज पाया है; परन्तु भाइयों के मरने पर शोकग्रस्त हो फिर पितामह के पास आये हैं और भीष्म जी ने उनको वह धर्म का उपदेश दिया है जो चिरकाल तक भारतवासियों को स्मरण रखना चाहिये :—

केवल मारने और न मारने में पाप व पुण्य नहीं है। धर्म की और देश की रक्षा के लिये शत्रुओं का नाश करना ही सदा धर्म है। ऐसे समय मारने से मुख मोड़ना महापाप है। धर्म ही एक मुख्य पदार्थ है। जीना और मरना सदा ही लगा रहता है, एक शरीर को छोड़ मनुष्य को दूसरे शरीर में जाना है। इस कारण शरीर के मोह में पड़ धर्म का त्याग करना केवल निर्बुद्धि और मूर्खता है।

महात्मा भीष्म का चरित्र इस बात का उदाहरण है कि मनुष्य को किस प्रकार अपने धर्म को निबाहना चाहिये और भारतवासियों को सदा शिक्षा दे रहा है कि कायरता और शरीर के मोह को छोड़ तुम्हें निर्भयता से अपने धर्म पर आरूढ़ हो देश की उन्नति में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

साहित्योपासक

[लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द जी]

प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाली हुई चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी, दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके

लिए जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थी। घर में गये ज़रूर कि पत्नी को जगाकर पैसे माँगे; पर उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निद्रा-मग्न देखकर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात-भर नींद न आई होगी, इस वक्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था। चुपके से चले आये।

चाय पीकर उन्होंने क़लम-दवात सँभाली और वह किताब लिखने में तल्लीन हो गये, जो इनके विचार में इस शताब्दी की सबसे बड़ी रचना होगी, जिसका प्रकाशन उन्हें गुमनामी से निकालकर ख्याति और समृद्धि के स्वर्ग पर पहुँचा देगा।

आध घण्टे बाद पत्नी आँखें मलती हुई आकर बोली—क्या तुम चाय पी चुके? प्रवीण ने सहास मुख से कहा—हाँ पी चुका। बहुत अच्छी बनी थी।

'पर दूध और शक्कर कहाँ से लाये?'

दूध और शक्कर तो कई दिन से नहीं मिलता। मुझे आजकल सादा चाय ज्यादा स्वादिष्ट लगती है। दूध और शक्कर मिलाने से उसका स्वाद बिगड़ जाता है। डाक्टरों की भी यही राय है, कि चाय हमेशा सादा पीनी चाहिये। योरप में तो दूध का बिलकुल रिवाज नहीं है। यह तो हमारे यहाँ के मधुर-प्रिय रईसों की ईजाद है।

'जाने तुम्हें फीकी चाय कैसे अच्छी लगती है। मुझे जगा क्यों न लिया! पैसे तो रखे थे।'

महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था, और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गई, स्वास्थ्य घुल गया, और चालीस की अवस्था में बुढ़ापे ने आ घेरा; पर यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात तक यह साहित्य का उपासक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता था। पर भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। मन तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न

-करता, दोनों के वरदान का पात्र क्योंकर बनता, और लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में न प्रकट होती थी। उसकी सब से निर्दय क्रीड़ा यह थी, कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उदारतापूर्वक सहृदयता का दान भी न देते थे। कदाचित् सारी दुनिया ने उनके विरुद्ध कोई षड्यंत्र-सा रच डाला था। यहाँ तक कि इस निरंतर अभाव ने उसमें आत्म-विश्वास को जैसे कुचल दिया था। कदाचित् अब उसे यह ज्ञात होने लगा था कि उनकी रचनाओं में कोई सार, कोई प्रतिभा नहीं है और यह भावना अत्यन्त हृदयविदारक थी। यह दुर्लभ मानव-जीवन योंही नष्ट हो गया! यह तस्कीन भी नहीं कि संसार ने चाहे उसका सम्मान न किया हो; पर उसकी जीवन कृति इतनी तुच्छ नहीं! जीवन की आवश्यकताएँ घटते घटते संन्यास की सीमा को भी पार कर चुकी थीं। अगर कोई सन्तोष था, तो यह कि उनकी जीवन-सहचरी त्याग और तप में उनसे भी दो कदम आगे थी। सुमित्रा इस दशा में भी प्रसन्न थी। प्रवीण जी को दुनिया से शिकायत हो; पर सुमित्रा जैसे गेंद में भरी हुई वायु की भाँति उन्हें बाहर की ठोकरों से बचाती रहती थी। अपने भाग्य का रोना तो दूर की बात थी, इस देवी ने कभी माथे पर बल भी न आने दिया।

सुमित्रा ने चाय का प्याला समेटते हुए कहा—तो जाकर घंटा-आध-घंटा कहीं घूम-फिर क्यों नहीं आते जब मालूम हो गया कि प्राण देकर काम करने से भी कोई नतीजा नहीं, तो व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो।

प्रवीण ने बिना मस्तक उठाये, काग़ज़ पर क़लम चलाते हुए कहा—लिखने में कम-से-कम यह सन्तोष तो होता है, कि कुछ कर रहा हूँ। सैर करने में तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि समय का नाश कर रहा हूँ।

यह इतने पढ़े-लिखे आदमी नित्य प्रति हवा खाने जाते हैं, तो अपने समय का नाश करते हैं?

'मगर इनमें अधिकांश वही लोग हैं जिनके सैर करने से उनकी आमदनी में बिलकुल कमी नहीं होती। अधिकांश तो सरकारी नौकर हैं, जिनको मासिक वेतन मिलता है, या ऐसे पेशों के लोग हैं, जिनका लोग

आदर करते हैं। मैं तो मिल का मजूर हूँ। तुमने किसी मजूर को हवा खाते देखा है। जिन्हें भोजन की कमी नहीं, उन्हीं को हवा की ज़रूरत है। जिनको रोटियों के लाले हैं, वे हवा खाने नहीं जाते। फिर स्वास्थ्य और जीवन-वृद्धि की जरूरत उन लोगों को है, जिनके जीवन में आनन्द और स्वाद है। मेरे लिये तो जीवन भार है। इस भार को सिर पर कुछ दिन और बनाये रहने की अभिलाषा मुझे नहीं है।

सुमित्रा ये निराशा में डूबे हुए शब्द सुनकर आँखों में आँसू भरे अन्दर चली। उसका दिल कहता था, इस तपस्वी की कीर्ति-कौमुदी एक दिन अवश्य फैलेगी, चाहे लक्ष्मी की अकृपा बनी रहे। किन्तु प्रवीण महोदय अब निराशा की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से प्रतिकूल दिशा में उदय होने वाली आशामय उषा की लाली भी नहीं दिखाई देती।

(२)

एक रईस के यहाँ कोई उत्सव है। उसने महाशय प्रवीण को भी निमंत्रित किया है। आज उनका मन आनन्द के घोड़े पर बैठा हुआ नाच रहा है। सारे दिन वह इसी कल्पना में मग्न रहे। राजा साहब किन शब्दों में उनका स्वागत करेंगे और वह किन शब्दों में उनको धन्यवाद देंगे; किन प्रसंगों पर वार्तालाप होगा, और किन महानुभावों से उनका परिचय होगा, सारे दिन वह इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द उठाते रहे। इस अवसर के लिये उन्होंने एक कविता भी रची, जिसमें जीवन की, एक उद्यान से तुलना की थी। अपनी सारी धारणाओं की उन्होंने आज उपेक्षा कर दी। क्योंकि रईसों के मनोभावों को वह आघात न पहुँचा सकते थे।

दोपहर ही से उन्होंने तैयारियाँ शुरू कीं। हजामत बनाई, साबुन से नहाया, सिर में तेल डाला। मुश्किल कपड़ों की थी। मुद्दत गुज़री जब उन्होंने एक अचकन बनवाई थी। उसकी दशा भी उन्हीं की दशा जैसी जीर्ण हो चुकी थी। जैसे ज़रासी सर्दी या गर्मी से उन्हें ज़ुकाम या सिरदर्द हो जाता था, उसी तरह वह अचकन भी नाज़ुक-मिज़ाज थी। उसे निकाला और झाड़-पोंछ कर रक्खा।

सुमित्रा ने कहा—तुमने व्यर्थ ही यह निमन्त्रण स्वीकार किया। लिख देते, मेरी तबीअत अच्छी नहीं है। इन फटे-हालों जाना तो और भी बुरा है।

प्रवीण ने दार्शनिक गम्भीरता से कहा—जिन्हें ईश्वर ने हृदय और परख दी है, वे आदमियों की पोशाक नहीं देखते—उनके गुण और चरित्र देखते हैं। आखिर कुछ बात तो है कि राजा साहब ने मुझे निमंत्रित किया। मैं कोई ओहदेदार नहीं, जमादार नहीं, जागीरदार नहीं, ठेकेदार नहीं, केवल एक साधारण लेखक हूँ। लेखक का मूल्य उसकी रचनायें होती हैं। इस एतबार से मुझे किसी भी लेखक से लज्जित होने का कारण नहीं है।

सुमित्रा उनकी सरलता पर दया करके बोली—तुम कल्पनाओं के संसार में रहते-रहते प्रत्यक्ष संसार से अलग हो गये हो। मैं कहती हूँ कि राजा साहब के यहाँ लोगों की निगाह सबसे ज्यादा कपड़ों ही पर पड़ेगी। सरलता ज़रूर अच्छी चीज़ है; पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि आदमी फूहड़ बन जाय।

प्रवीण को इस कथन में कुछ सार जान पड़ा। विद्वानों की भाँति उन्हें भी अपनी भूलों को स्वीकार करने में कुछ विलम्ब न होता था। बोले—मैं समझता हूँ, दीपक जल जाने के बाद जाऊँ।

"मैं तो कहती हूँ, जाओ ही क्यों ?"

'अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन में आदर और सम्मान की एक क्षुधा होती है। तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है ? इसलिये, कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मंज़िल है। हम उस महासत्ता के सूक्ष्मांश हैं जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अंश में पूर्ण (अंशी) के गुणों का होना लाज़िमी है। इसलिये कीर्ति और सम्मान; आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।'

सुमित्रा ने गला छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा भई जाओ, मैं तुम से बहस नहीं करती, लेकिन कल के लिए कोई व्यवस्था करते आना; क्योंकि मेरे

पास केवल एक आना और रह गया है। जिनसे उधार मिल सकता था उनसे ले चुकी और जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आई। मुझे तो अब और कोई उपाय नहीं सूझता।

प्रवीण ने एक क्षण के बाद कहा—दो एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आने वाले हैं। शायद कल तक आ जायँ। और अगर कल उपवास ही करना पड़े, तो क्या चिंता। हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं। और तन मन से काम करते हैं अगर इस पर भी हमें फ़ाक़ा करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे जैसे लाखों आदमी रोज़ मरते हैं। संसार का काम ज्यों का त्यों चलता रहता है। फिर इसका क्या ग़म कि हम भूखों पर मर जायँगे। मौत डरने की वस्तु नहीं। मैं तो कबीर-पंथियों का क़ायल हूँ जो अर्थी को गाते-बजाते ले जाते हैं। मैं इससे नहीं डरता। तुम्हीं कहो, मैं जो कुछ करता हूँ, इससे अधिक और कुछ मेरी शक्ति के बाहर है या नहीं। सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं क़लम लिये बैठा होता हूँ। लोग हँसी दिल्लगी, आमोद-प्रमोद, करते रहते हैं; मेरे लिए वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने तक की नौबत नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीमार भी होता हूँ, तो लिखने की फ़िक्र सिर पर सवार रहती है। सोचो तुम बीमार थीं, और मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिए समय न पाता था। अगर दुनिया नहीं क़दर करती न करे, इसमें दुनिया का ही नुक़सान है। मेरी कोई हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है, या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र परिचित या संबन्धी है जिसका मैं आभारी नहीं यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। संतोष इतना ही है, कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद न कर सकें; पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है मेरी खुशी के लिए इतना ही काफ़ी है, कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उन पर एक नशा-सा छा गया। गर्व से बोले—नहीं

मैं अब रात को जाऊँगा। मेरी ग़रीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उस पर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमंत्रित करें, वह कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मुझे नीचा समझे, तो वह खुद नीचा है।

(३)

संध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटी-पुरानी अचकन और सड़े हुए जूते और बेढंगी-सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वा-मख्वाह बाँगड़ू उचक्के से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस ठाठ में भी एक शान होती। स्थूलता स्वयं रोब डालने वाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवी मोटा-ताज़ा, डबल आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं! दीपक का काम है जलना। दीपक वही लबा-लब भरा होगा, जो जला नहीं। 'अकबर' ने कहा है—

"शिकम होता तो मैं इस अहद में फूला-फला होता।
सरापा-दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए-ग़म हूँ॥"

फिर भी आप अकड़े जाते हैं एक-एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकल कर वह दूकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। आज वह गरदन उठाए, उनके सामने से जा रहे हैं। आज वह उनके तक़ाज़ों का दंदाँ-शिकन जवाब देने को तैयार हैं। पर संध्या का समय है, हरेक दूकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ नहीं देखता। जिस रकम को अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दूकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी, कि एक जाने पहचाने आदमी को सरे-बाज़ार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाजार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया; पर वह भी निष्फल। तब वह खुद हाफ़िज़ समद

की दूकान पर जाकर खड़े हो गए। हाफ़िज़ जी बिसाते का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए प्रवीण इस दूकान से एक छतरी ले गए थे और अभी तक दाम न चुका सके थे। प्रवीण को देखकर बोले—महाशयजी, अभी तक छतरी के दाम नहीं मिले। ऐसे सौ पचास गाहक मिल जायँ तो दिवाला हो जाय! अब तो बहुत दिन हुए।

प्रवीण की बाँछें खिल गईं। दिली मुराद पूरी हुई। बोले मैं भूला नहीं हूँ हाफ़िज़ जी, इन दिनों काम इतना ज्यादा था कि घर से निकलना मुश्किल था। रुपये तो हाथ नहीं आते; पर आपकी दुआ से क़दरशिनासों की कमी नहीं। दो चार आदमी घेरे ही रहते हैं। इस वक्त भी राजा साहब—अजी वही जो नुक्कड़वाले बँगले में रहते हैं—उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ। दावत है। रोज ऐसा कोई-न-कोई मौक़ा आता ही रहता है।

हाफ़िज़ समद प्रभावित होकर बोला—अच्छा! आप राजा साहब के यहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं। ठीक है, आप जैसे बा-कमालों की क़द्र रईस ही कर सकते हैं, और कौन करेगा, सुभानल्लाह! आप इस ज़माने में यकता हैं। और कोई मौका हाथ आ जाय, तो ग़रीबों को न भूल जाइयेगा। राजासाहब की अगर इधर निगाह हो जाय तो फिर क्या पूछना। एक पूरा बिसाता तो उन्हीं के लिये चाहिये। ढाई तीन लाख सालाना आमदनी है।

प्रवीण को ढाई-तीन लाख कुछ तुच्छ जान पड़े। ज़बानी जमाख़र्च है, तो दस-बीस लाख कहने में क्या हानि। बोले—ढाई-तीन लाख! आप तो उन्हें गालियाँ देते हैं। उनकी आमदनी दस लाख से कम नहीं। एक साहब का अन्दाजा तो बीस लाख का है। इलाका है, मकानात हैं, दूकानें हैं, ठेका है, अमानती रुपये हैं, और फिर सबसे बड़ी सरकार बहादुर की निगाह है।

हाफ़िज़ ने बड़ी नम्रता से कहा—यह दूकान आपही की है जनाब, बस इतनी ही अरज़ है। अरे मुरादी, ज़रा दो पैसे के अच्छे-से पान तो बनवा ला, आपके लिये। आइये, दो मिनट बैठिये। कोई चीज पसंद हो तो दिखाऊँ। आप से तो घर का वास्ता है।

प्रवीण ने पान खाते हुए कहा—इस वक्त तो मुआफ़ रखिए। बड़ी देर होगी। फिर कभी हाजिर हूँगा।

वहाँ से उठ कर वह एक कपड़े-वाले की दूकान के सामने रुके। मनोहरदास नाम था। इन्हें खड़े देखकर आँखें उठाईं। बेचारा इनके नाम को रो बैठा था। समझ लिया शायद शहर में हैं ही नहीं। समझा रुपये देने आए हैं। बोला—भाई प्रवीणजी! आपने तो बहुत दिनों दर्शन ही नहीं दिये। रुक्का कई बार भेजा, मगर प्यादे को आपके घर का पता ही न मिला। मुनीमजी ज़रा देखो तो आपके नाम क्या है। प्रवीण जी के प्राण तक़ाज़ों से सूख जाते थे; पर आज वह इस तरह खड़े थे, मानो उन्होंने कोई कवच धारण कर लिया है, जिस पर किसी अस्त्र का आघात नहीं हो सकता। बोले—ज़रा इन राजा साहब के यहाँ से लौट आऊँ, तो निश्चित होकर बैठूँ। इस समय जल्दी में हूँ।

राजा साहब पर मनोहरदास के कई हजार रुपये आते थे। फिर भी उनका दामन न छोड़ता था। एक के तीन वसूल करता। उसने प्रवीण जी को उसी श्रेणी में रखा, जिसका पेशा रईसों को लूटना है। बोला—पान तो खाते जाइये महाशय राजा साहब एक दिन के हैं, हम तो बारहो मास के हैं। भाई साहब! कुछ कपड़े दरकार हों तो ले जाइए। अब तो होली आ रही है। मौका हो तो ज़रा राजा साहब के ख़ज़ानची से कहियेगा, पुराना हिसाब बहुत दिन से पड़ा हुआ है, अब तो सफाई हो जाय। अब हम ऐसा कौन सा नफा ले लेते हैं, कि दो-दो साल हिसाब ही न हो।

प्रवीण ने कहा—इस समय तो पान-वान रहने दो भाई। देर हो जायगी। जब उन्हें मुझसे मिलने का इतना शौक़ है और मेरा इतना सम्मान करते हैं, तो अपना भी धर्म है कि उनको मेरे कारण कष्ट न हो। हम तो गुण-ग्राहक चाहते हैं, दौलत के भूखे नहीं; कोई अपना सम्मान करे, तो उसकी गुलामी करें। अगर किसी को रियासत का घमण्ड हो, तो हमें उसकी परवाह नहीं।

(४)

प्रवीणजी राजा साहब के विशाल भवन के सामने पहुँचे, तो दीये जल चुके थे। अमीरों और रईसों की मोटरें खड़ी थीं।

वरदी-पोश दरबान द्वार पर खड़े थे। एक सज्जन मेहमानों का स्वागत कर रहे थे। प्रवीणजी को देखकर वह ज़रा झिझके। फिर उन्हें सिर से पाँव तक देखकर बोले—आपके पास नवेद है?

प्रवीण की जेब में नवेद था। पर इस भेद-भाव पर उन्हें क्रोध आ गया। उन्हीं से क्यों नवेद माँगा जाय। औरों से भी क्यों न पूछा जाय? बोले—जी नहीं, मेरे पास नवेद नहीं है। अगर आप अन्य महाशयों से नवेद माँगते हों; तो मैं भी दिखा सकता हूँ। वरना मैं इस भेद को अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ। आप राजा साहब से कह दीजियेगा, प्रवीणजी आए थे और द्वार से लौट गए।

'नहीं-नहीं, महाशय, अन्दर चलिए। मुझे आपसे परिचय न था। बेअदबी माफ़ कीजिए। आप ही जैसे महानुभावों से तो महफ़िल की शोभा है। ईश्वर ने *आपको वह वाणी प्रदान की है कि क्या कहना!'*

इस व्यक्ति ने प्रवीण को कभी न देखा था। लेकिन जो कुछ उसने कहा, वह हरेक साहित्यसेवी के विषय में कह सकते हैं, और हमें विश्वास है कि कोई साहित्यसेवी इस दाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवीण अन्दर पहुँचे, तो देखा, बारहदरी के सामने विस्तृत और सुसज्जित प्रांगण में बिजली के कुमकुमे अपना प्रकाश फैला रहे हैं। मध्य में एक हौज़ है, हौज़ फौवारे में संगमरमर को परी, परी के सिर पर, फ़ौवारा की फुहारें रंगीन कुमकुमों से रञ्जित होकर ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्द्र-धनुष पिघल कर ऊपर से बरस रहा है। हौज़ के चारों ओर मेजें लगी हुई थीं। मेज़ों पर सुफेद मेज़-पोश ऊपर सुन्दर गुलदस्ते।

प्रवीण को देखते ही राजा साहब ने स्वागत किया—आइये, आइये, अबकी 'हंस' में आपका लेख देखकर दिल फड़क उठा। मैं तो चकित हो गया। मालूम ही न था, कि इस नगर में आप जैसे रत्न भी छिपे हुए हैं।

फिर उपस्थित सज्जनों से उनका परिचय देने लगे—आपने महाशय प्रवीण का नाम तो सुना ही होगा। वह आप ही हैं। क्या माधुर्य है, क्या प्रसाद है, क्या ओज है, क्या भाव है, क्या भाषा है, क्या सूझ है, क्या चमत्कार है, क्या प्रभाव है, कि वाह! वाह! मेरी तो आत्मा जैसे नृत्य करने लगती है

एक सज्जन ने, जो अँगरेजी सूट में थे, प्रवीण को ऐसी निगाह से देखा, मानों वह चिड़ियाघर के कोई जीव हों; और बोले—आपने अँगरेजी के कवियों का भी अध्ययन किया है—बाइरन, शेली, कीट्स आदि?

प्रवीण ने रुखाई से जवाब दिया—जी हाँ, थोड़ा बहुत देखा तो है।

'आप इन महाकवियों में से किसी की रचनाओं का अनुवाद कर दें। तो आप हिन्दी भाषा की अमर सेवा करें।

प्रवीण अपने को बाइरन, शेली आदि से जौ भर भी कम न समझते थे। वे अँगरेजी के कवि थे, उनकी भाषा, शैली, विषय, व्यञ्जना, सभी अँग्रेजी की रुचि के अनुकूल थीं। उनका अनुवाद करना वह अपने लिए गौरव की बात समझते थे; उसी तरह जैसे वे उनकी रचनाओं का अनुवाद करना अपने लिये गौरव की वस्तु न समझते। बोले—हमारे यहाँ आत्मदर्शन का अभी इतना अभाव नहीं है, कि हम विदेशी कवियों से भिक्षा माँगें। मेरा विचार है, कि कम से कम इस विषय में भारत अब भी पश्चिम को कुछ सिखा सकता है।

यह अनर्गल बात थी। अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को पागल समझा।

राजा साहब ने प्रवीण को ऐसी आँखों से देखा, जो कह रही थीं—ज़रा मौका-महल देखकर बातें करो, और बोले—अँगरेजी साहित्य का क्या पूछना! कविता में तो वह अपना जोड़ नहीं रखता।

अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को सगर्व नेत्रों से देखा—हमारे कवियों ने अभी तक कविता का अर्थ ही नहीं समझा। अभी तक वियोग और नख-शिख को कविता का आधार बनाये हुए हैं।

प्रवीण ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया—मेरा विचार है, कि आपने र्तमान कवियों का अध्ययन नहीं किया, या किया, तो ऊपरी आँखों से।

राजा साहब ने अब प्रवीण की ज़बान बन्द कर देने का निश्चय केया—आप मिस्टर परांजपे हैं। प्रवीणजी, आपके लेख अँगरेजी पत्रों में छपते हैं और बड़ी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इसका आशय यह था, कि अब आप ज्यादा न बहकिए।

प्रवीण समझ गये। परांजपे के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ा। विदेशी शभूषा और भाषा का यह भक्त इतना सम्मान पाये, यह उनके लिये असह्य था; पर करते क्या!

उसी वेश के एक दूसरे सज्जन आए। राजा साहब ने तपाक से उनका अभिवादन किया—आइये डाक्टर चड्ढा, कैसे मिज़ाज हैं?

डाक्टर साहब ने राजा साहब से हाथ मिलाया और फिर प्रवीण की ओर जिज्ञासा-भरी आँखों से देखकर पूछा आपकी तारीफ़?

राजा साहब ने प्रवीण का परिचय दिया—आप महाशय प्रवीण हैं। आप भाषा के अच्छे कवि और लेखक हैं।

डाक्टर साहब ने एक खास अन्दाज़ से कहा—'अच्छा! आप कवि हैं!' और बिना कुछ पूछे आगे बढ़ गये।

फिर उसी वेश के एक और महाशय पधारे। यह नामी बैरिस्टर थे। राजा साहब ने उनसे भी प्रवीण का परिचय कराया। उन्होंने भी उसी अंदाज़ से कहा—'अच्छा! आप कवि हैं!' और आगे बढ़ आये!

यह अभिनय कई बार हुआ। और हर बार प्रवीण को यही दाद मिली—'अच्छा! आप कवि हैं!'

यह वाक्य हर बार प्रवीण के हृदय पर एक नया आघात पहुँचाता था। उसके नीचे जो भाव था वह प्रवीण खूब समझते थे। उसका सीधा-सादा आशय यह था—तुम अपने ख़याली पुलाव पकाते सो, पकावो. यहाँ तुम्हारा क्या प्रयोजन? तुम्हारा इतना साहस कि तुम इस सभ्य समाज में बेधड़क आओ।

प्रवीण मन ही मन अपने ऊपर झुँझला रहे थे। निमंत्रण पाकर उन्होंने अपने को धन्य माना था; पर यहाँ आकर उनका जितना अपमान हो रहा था, उसके देखते तो वह संतोष की कुटिया, स्वर्ग थी। उन्होंने अपने मन को धिक्कारा—तुम जैसे सम्मान के लोभियों को यही दण्ड है। अब तो आँखें खुलीं, तुम कितने सम्मान के पात्र हो! तुम इस स्वार्थमय संसार में किसी के काम नहीं आ सकते! वकील-बैरिस्टर तुम्हारा सम्मान क्यों करें, तुम उनके मुवक्किल नहीं हो सकते, न उन्हें तुम्हारे द्वारा कोई मुक़दमा पाने की आशा है। डाक्टर या हकीम तुम्हारा सम्मान क्यों करें, उन्हें तुम्हारे घर बिना फ़ीस आने की इच्छा नहीं। तुम लिखने के लिये बने हो, लिखे जाओ, बस! और संसार में तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं।

सहसा लोगों में हलचल पड़ गई! आज के प्रधान अतिथि का आगमन हुआ। यह महाशय हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए थे। इसी उपलक्ष्य में यह जलसा हो रहा था। राजा साहब ने लपककर उनसे हाथ मिलाया और आकर प्रवीणजी से बोले—आप अपनी कविता तो लिख ही लाये होंगे?

प्रवीण ने कहा—मैंने कोई कविता नहीं लिखी।

'सच! तब तो आपने ग़ज़ब ही कर दिया। अरे भले आदमी, अब तो कोई चीज़ लिख डालो। दो ही चार पंक्तियाँ हो जायँ। बस! ऐसे अवसर पर एक कविता का पढ़ा जाना लाज़िमी है।'

'मैं इतनी जल्द कोई चीज़ नहीं लिख सकता।'

'मैंने व्यर्थ ही इतने आदमियों से आपका परिचय कराया?'

'बिल्कुल व्यर्थ।'

'अरे भाई-जान, किसी प्राचीन कवि की ही कोई चीज़ सुना दीजिये। यहाँ कौन जानता है।'

'जी नहीं क्षमा कीजिये। मैं भाट नहीं, न कथक हूँ।'

यह कहते हुए प्रवीणजी तुरन्त वहाँ से चल दिये। घर पहुँचे, तो उनका चेहरा खिला हुआ था।

सुमित्रा ने प्रसन्न होकर पूछा—इतना जल्दी कैसे आ गये?

'मेरी वहाँ कोई ज़रूरत न थी।'

'चलो चेहरा खिला हुआ है। खूब सम्मान हुआ होगा।'

'हाँ, सम्मान तो जैसी आशा न थी वैसा हुआ।'

'खुश बहुत हो?'

'इसीसे कि आज मुझे हमेशा के लिए सबक़ मिल गया। मैं दीपक हूँ और जलने के लिये बना हूँ। आज मैं इस तत्व को भूल गया था। ईश्वर ने मुझे ज्यादा बहकने न दिया। मेरी यह कुटिया ही मेरे लिए स्वर्ग है। मैं आज यह तत्व पा गया, कि साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।

समाधान

[लेखक—बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद']

परिवर्तित दृश्य

(बिहार के समीप चतुष्पथ। एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिए; दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित। दण्डनायक का प्रवेश।)

दण्डनायक—नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है। देखते नहीं हो कि, साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है। और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो!

ब्राह्मण—इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है; कई बार के विताड़ित हूण, इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आए हैं, इनके धर्म का और इनका नाश करके, तब हम लोग विश्राम करेंगे।

श्रमण—ठीक है। गङ्गा, यमुना और सरयू के तट पर के गड़े हुए यज्ञयूप, सद्धर्म्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों से अभी भी खटकते हैं! हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्म्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यों के द्वारा बनते हैं, उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और

समाज से हमारी सुख-शान्ति में बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें, और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा। गुप्त साम्राज्य ने मौर्य्य साम्राज्य के ध्वंस पर क्या क्या अत्याचार नहीं किये?

ब्राह्मण—हुए हैं, और होंगे। ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियंता नहीं देख सकते। प्रकृति के नियमों में इतना बड़ा परिवर्तन कभी नहीं हो सकता। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये है, वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी—हमारे धर्म्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण—अनर्थ हो जायगा। निरीह प्राणियों के वध में कौन सा धर्म है ब्राह्मण? तुम्हारी इसी हिंसा नीति का और अहंकार-मूलक आत्मवाद का खण्डन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था?—क्यों नहीं प्रतिवाद कर सके? क्यों नतमस्तक होकर, समग्र जम्बूद्वीप ने, उस ज्ञानरणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार किया? वह अहम्भाव का दम्भ, पवित्रता का ठेका, आज भी लेकर तुम अत्याचार किया चाहते हो! यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दान्त ब्राह्मण-देव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शान्त करेंगे!

धातुसेन—(प्रवेश करके)—जैसे 'अहम्' का, वैसे आत्मवाद का खंडन करके उन्होंने विश्वात्मवाद को ध्वंस नहीं किया; यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? इस उपनिषदों के नेति-नेति से व्यतिरेक से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, संसार में प्रचारित हुआ—मध्यमा प्रतिपदा के नाम से, कि व्यष्टिरूप में आत्मा के सदृश कुछ

नहीं है। और शून्य भी नहीं है। तात्पर्य, समष्टिरूप में है भी, यही बीच का मार्ग है।

दण्डनायक—क्यों न होने दोगे! अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे! आज गुप्त षड्यन्त्रों से गुप्त साम्राज्य शिथिल है, कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके, जो धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे! ओह इतना नीचे! धर्म्मदेव! तुम कहाँ हो!

धातुसेन—सप्तसिन्धु-प्रदेश नृशंस हूणों से पदाक्रान्त है, जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। कहिये क्यों? क्षत्रिय राजा, धर्म का पालन कराने वाला राजा, पृथ्वी पर नहीं रह गया। आपने इसे विचारा है, सोचा है? नहीं। क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिये अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया! दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे! कामना से अन्धी जनता के विलासी समुदाय के ढोंग के लिए, तुम्हारा धर्म्म आवरण हो गया है। जिस धर्म्म के आचरण के लिये—पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं हो सकता! फिर अनधिकारियों को दूसरे धर्म्म का आश्रय ढूंढ़ना पड़ा, और आर्य्य राष्ट्र के नाश का सुगम पथ तुमने संकेत द्वारा बतला दिया! धर्म्म-वृक्ष के चारों ओर, स्वर्ग के काँटेदार जाल फैलाए गए हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है! जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म्म को सुरक्षित रक्खा उन्होंने समझा कि धर्म्म धन से खरीदा जा सकता है, इसलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ, और धर्म्म गौण। जो पारस्य देश की मूल्यवान् मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए, प्रभात में एक गो-निष्क्रय भी कर

सकता है ! धर्म्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता है—छिः ! धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव-बल के द्वारा सुरक्षित होगा !!

श्रमण—प्रवृत्ति-मूलक धर्म्म के व्यवसाय का यही परिणाम होगा। इसी से तो तथागत ने निवृत्ति-पथ के धर्म्म का प्रचार किया है। उनकी अमोघ वाणी, विश्वकल्याण के लिए प्रचारित हुई, कुछ व्यवसाय के लिए नहीं। परन्तु वर्त्तमान समय में दोनों, केवल आधारस्वरूप प्रकृति की खिलवाड़ में फँसे हैं। एक प्राकृत महत् का अन्तर्मुख विकास है—जो कष्ट छुड़ाने की प्रतिज्ञा करता है, तो दूसरा उसी प्रकृति का बहिर्मुख विस्तार है—जो जीवन के लिए सुख-साधन की सामग्री जुटाने का प्रलोभन दिखाता है।

ब्राह्मण—तुम कौन हो ? मूर्ख उपदेशक ! हट जाओ ! तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध ! तुमको क्या अधिकार है कि तुम हमारे धर्म्म की व्याख्या करो !

धातुसेन—ब्राह्मण क्यों महान् हैं ?—इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं, इसी के बल पर बड़े बड़े सम्राट उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे और वे तपस्वी ऋतु और अमृत वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए, सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की सन्तान हैं ! सात्त्विक ब्रह्म-देव ! नैतिक और सामाजिक दृष्टि से भी आपको विचार करना चाहिए और धर्म्म के नाम पर तो बलि एक बार ही बन्द कर देनी चाहिए। देखिये, किसी कारणवश आपके पुरखों ने अपने प्राचीन धार्मिक कर्म—अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था ! इस लिए हम यह मानते हैं कि हमारा धर्म्म अवरोधक नहीं है।

हमने समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तनों को स्वीकार किया है। क्योंकि मानव बुद्धि ईश्वरीय ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी, और वही हमारे धर्म्म की श्रेष्ठता है

प्रख्यातकीर्ति—धर्म्म के अन्धभक्तो। मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए, सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। क्योंकि इस असत्य सदृश्य संसार में सत्य उसी का आश्रय लेकर प्रगट होता है, यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ न कुछ प्राचीन असत्य परम्पराओं का आश्रय इसी नीति से ग्रहण करना पड़ता है, यदि ऐसा न करें तो उसके अनुयायी न मिलें। भीतर अपने दोषों को ढूँढ़ो, तुम बहुत-सी त्रुटियाँ अपने में पाओगे। क्या कोई भी इस धर्म से मुक्त होगा? आर्य्य धर्म्म इसी से महान् है कि वह सब सत्यों का समादर करता है; उसके ज्ञानग्रन्थ वेदों में, सब ग्रंथों के सूत्र संकलित हैं। भिक्षुगण, इसी से गौतम कहा करते थे कि, मैं पूर्व ऋषियों का धर्म्म कह रहा हूँ। प्रत्येक धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार, निवृत्त हो रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठधर्मी से उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करनेवाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचार के फूलों से, दुःख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें

बहुत से लोग—ठीक तो है, ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं, और आततायियों को देखकर, घर में घुस जाते हैं! हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते!

दण्डनायक—यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्ति—बौद्ध जनता से मेरा निवेदन है कि मैं इस विहार का आचार्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में उन्हें माननी चाहिए। मैं

जानता हूँ कि, भगवान् ने प्राणी मात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसी लिए धर्म है। यह तिर्य्यक योनि का प्राणी है, इसीलिए वध्य नहीं हो सकता। कुछ इसका यह तात्पर्य नहीं कि, तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करो, और हत्या की संख्या की वृद्धि हो! अतः यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं? क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है

(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यात०—(हँसकर)—यही आपका धर्मोन्माद था—एक युद्ध करनेवाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना, और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है! जाइये, घर लौट जाइये!—(ब्राह्मण से) आओ रक्तपिपासु-धार्मिक! लो—मेरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो!—(सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण—(तलवार फेंककर)—धन्य हो महाश्रमण! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे-ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं! मैं बलि नहीं करूँगा।

(जनता में जयजयकार; सब धीरे धीरे जाते हैं।)

विश्व-प्रेमी कवि

[लेखक—पंडित बदरीनाथ भट्ट]

विश्व-प्रेमी कवि ने मेरे गाँव में आकर अपने बाँसुरी जैसे स्वर में विश्वप्रेमी का गान सुनाया। छोटे-बड़े सभी मोहित हो गये। 'वाह' 'वाह' होने लगी। गीत का भाव यह था कि अपनी आत्मा के क्षुद्र स्वार्थबंधनों को

तोड़ कर विश्वात्मा में लीन हो जाओ; किसी से राग-द्वेष न करो; प्रेम ही आनन्द का मूल—ईश्वर का स्वरूप है उसे पहचानो; सब सृष्टि के साथ ही अपनी कल्याण कामना करो; छोटे-मोटे दुखों की परवा न करो; उस प्रभु की विश्व व्यापिनी महाज्योति के आह्लाद-सागर में डूब जाओ, लीन हो जाओ, विलीन हो जाओ, तल्लीन हो जाओ, इसी का नाम मुक्ति है; क्षुद्र कामनाओं का नाम है संसार।

संदेश सचमुच दिव्य था। मैंने इस पर विचार किया। मैं कवि के पैरों पर गिर पड़ा। उसने अपने कोमल करों से उठाकर मुझे अपने सामने बैठाया।

मैंने कहा—आप विश्व-प्रेम का जो दिव्य गान सुनाते हैं, उससे हमारे हृदय आनन्द से नाचने लगे हैं; परन्तु बरसाती बीरबहूटी या ऊनवाली भेड़ के लिए विश्व-प्रेम के सिद्धान्तों का क्या महत्व ? सुन्दर बीरबहूटी को लोग, अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए जीवित ही सुखाकर मार डालते हैं; भेड़ को भी मूड़ डालते और अन्त में खा लेते हैं। यों दोनों का अन्त होता है।

कवि—बीरबहूटी के लिए इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है कि परोपकार के लिए वह अपना सुन्दर मखमली शरीर न्योछावर कर दे ? भेड़ को भी ऐसी ही समझना चाहिए, और अनुदार होकर, मूड़ने या मारने वाले की निन्दा न करनी चाहिए।

मैं—आपका यह विश्व-प्रेम का सन्देश विश्व-द्रोहियों के काम का हो सकता है जो अपने तनिक से स्वार्थ के लिए हरे-भरे देशों को उजाड़ते और सीधी-सच्ची जातियों को नष्ट करते चले जाते हैं। जो विश्वद्रोही होकर किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता, और विश्वप्रेमी बनकर किसी का कुछ बना नहीं सकता, हम सरीखे ऐसे दुर्बल व्यक्ति के द्रोह या प्रेम का मूल्य ही कितना ?

कवि—द्रोह विष है, प्रेम अमृत है। द्रोह दुर्गन्ध है, प्रेम सुगन्ध। काँटे द्रोह-मय होते हैं, फूल प्रेममय। दोनों संसार में आते और रहते हैं। काँटों की निन्दा होती है; फूलों की प्रशंसा। एक जूते के तले से कुचला जाता है, दूसरा देव-शीश पर चढ़ता है।

मैं—फूलों को हर कोई डाल में से तोड़कर तहस-नहस कर डालता है; काँटों पर हाथ डालने का साहस कोई नहीं किया चाहता। हम लोग पराधीन हैं; बहुत दिनों से फूल बनकर अपने को तुड़वाते और दूसरों के विलास की सामग्री बनते चले आते हैं; क्या अब भी हमें काँटा न बनना चाहिए? राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द भी यदि मानसिंह, टोडरमल आदि की भाँति फूल होते, तो वे भी अपने को तुड़वाकर मुगलों के चरणों पर पड़ने में ही अपना मनुष्य-जन्म सफल हुआ समझते। जो लोग अभी आपस में ही प्रेम करना नहीं सीखे उनके लिए आपका विश्व-प्रेम का गीत कितना वास्तविक महत्व रखता है?

कवि—अनन्त गगन-मण्डल में सूर्य और चन्द्र सबके लिए एक-से प्रकाशित होते हैं, बादल सबके लिए बरसते हैं और—

मैं—और सूर्य के तेज चंद्रमा की मुसकराहट और बादलों की अश्रु-धारा की परवा न करके सबल निर्बलों को कच्चा ही खाए जाते हैं; धर्म और जाति के नाम पर मिथ्या अहंकार का तांडव नृत्य दिखाने वाले ढोंगी लोग समझदार देशभक्तों के मार्ग में काँटे बखेर रहे हैं, पुलिस और ज़मींदारों ने प्रजा को मानसिक मृत्यु के घाट कभी का उतार दिया है, लोग सिंह और व्याघ्र न रह कर झींगर और केंचुए बन गए हैं। हे कवे, इस धाँधली से देश की रक्षा कीजिए, अत्याचार से दीनों का त्राण कीजिए, हम लोगों को अपनी मुक्ति का मार्ग बताइये—विश्व-भर की मुक्ति का नहीं।

कवि-परमात्मा की लीला का रसास्वादन करने के निमित्त हमें अपनी आत्मा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाना होगा, उसको निर्मल करना होगा। पूर्व और पश्चिम मिल रहे हैं, ध्यान से देखिए। अहा! पूर्व में इस अद्भुत सम्मिलनी का कैसा उत्सव मनाया जा रहा है! प्रकृति का सौन्दर्य आज अलौकिक दीख रहा है! वह अक्षम आनन्द की ओर संसार को बुला रहा है! वह देखिए! वह देखिए!

यों कह कर विश्वप्रेमी कवि मेरे यहाँ से विदा हो गया पर मेरी समझ में उसकी रचना का रहस्य का महत्व रत्ती भर भी न आया, और मेरा यह

विश्वास पहले जैसा ही अटल बना रहा कि उसकी रचना केवल उन लोगों के लिए मनोरंजन का साधन हो सकती है जो सांसारिक ऐश्वर्य सागर में भोग की सेज पर उसी प्रकार शयन कर रहे हैं जिस प्रकार विष्णु भगवान् क्षीर-सागर में शेषनाग पर। भुखमरी, मूर्ख और आत्मघातिनी हिन्दू जाति के लिए विश्वप्रेम का सन्देश केवल प्रलय का हरकारा हो सकता है, और कुछ नहीं ।

एक दिन गाँव के कुछ लोग, जिन पर उस कवि के बड़े नाम का जादू पूरा प्रभाव जमा चुका था, उस कवि की सारहीन कविता खाईं में गोते लगा लगा कर बड़े बड़े विचित्र अर्थ-घोंघे निकाल रहे और उसके सिद्धान्तों पर आपस में बहस कर रहे थे कि इतने में गुंडों ने उनके घरों में घुस घुसकर उनके सामने ही उनकी बहू-बेटियों को ले लेकर भागना शुरू किया। विश्व-प्रेमी कवि के उपासक अपनी काव्यसमीक्षा में ही लीन रहे। स्त्रियों के रोने-झीखने पर पहले तो उनका ध्यान ही नहीं गया; बाद को, जब वह करुण क्रन्दन उनके कर्णकुहरों में प्रवेश करके उनके रसिक हृदय के पास जबर्दस्ती जा पहुँचा तब उनकी नाजुकता की निद्रा कुछ भंग हुई और उन्होंने गुंडों की हृदय-हीनता की पूरी निन्दा की कि कम्बख्तों ने दिव्य काव्यचर्चा में विघ्न डाल कर विश्वप्रेम की बनी बनाई भावना को बिगाड़ने का बे-मौके प्रयत्न किया। अन्त में यह देख कर कि विश्वप्रेमी गुंडों ने उनकी बहू-बेटियों को, अपने तनिक से स्वार्थ से प्रेरित होकर, बलपूर्वक अपना लिया, उन्होंने 'पुलिस' 'पुलिस' चिल्लाना और अदालत के द्वार खटखटाना प्रारम्भ किया। अहा! विश्व-प्रेम का क्या ही दिव्य दृश्य था।

मैंने चाहा कि उस विश्व-कवि को इस बात की सूचना दूँ; पर एक मित्र से ज्ञात हुआ कि वह तो विश्व भर में घूम घूमकर चन्दा बटोर रहा है। विश्व-प्रेम का यह क्रियात्मक रूप देखकर मुझे उसकी अद्भुत रचना का रहस्य समझने में बड़ा सहारा मिला।

अन्तःपुर का आरंभ

[लेखक—राय कृष्णदास जी]

हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ के वज्र-निनाद से सारा जंगल दहल उठा।

उस गंभीर भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात सात बार सातों पर्वत श्रेणियों को हिलाया और जब यह हु-हुंकार शांत हुआ तब निशीथ का सन्नाटा छा गया; क्योंकि पशु पक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमाघुमा कर अपने राज्य—वन प्रांत—की चारों सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँघराले केश उसके प्रपुष्ट कंधों पर इठला रहे थे। अकड़ता हुआ, डँकारता हुआ, निर्द्वन्द्व मस्तानी चाल से उस टीले के नीचे उतरने लगा, जिसपर से उसने अभी गर्जना की थी।

उसने एक बार अपनी पूँछ उठाई। उसे कुछ क्षण चँवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एक बार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देनेवाली थी।

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं, छोटी सी ही। आजकल के सभ्य कहलानेवाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर—दो मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें, लेकिन यह उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था। कृतयुग के आरम्भ की कहानी है।

गुहा का आधा मुंह एक लता के अंचल से ढका था। आधे में एक मनुष्य खड़ा था। हाँ, मनुष्य; हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊँचा पँच-हत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानों उसका शरीर लोहे का गढ़ा हो। उसके बाएँ हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण; कमर में कृपाण भी बँधा हुआ था—मौञ्जी मेखला से। पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टाँगों की—एक आगे की, दूसरे पीछे की, एक दाहिनी

दूसरी बाईं की—कैंची की गाँठ छाती के पास बँधी हुई थी, बाकी दो लटक रही थीं। चारों में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर-राएँ की घनी तह से ढका हुआ था सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गह्वर लट पड़ी हुई डाढ़ी। सहज गौर वर्ण, धूप, वर्षा, जाड़े से पककर तँबिया गया था। शरीर पर जगह जगह घट्टे थे—पेड़ पर चढ़ने के, पहाड़ पर चढ़ने के, रेंगने के, फिसलने के; क्योंकि पुरातन नर की जीवनचर्या के ये ही समय-यापन थे। और एक बड़ा भारी घट्टा दाहिने हाथ की मुट्ठी पर था—प्रत्यंचा खींचने का अरने भैंसे की सींग का बना, पुरसा भर ऊँचा धनुष; उसी की कड़ी मोटी ताँत की प्रत्यंचा को खींचते खींचते, केवल यह घट्टा ही नहीं पड़ गया था, प्रत्युत् बाँहें भी लम्बी हो गई थीं। वे घुटने चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे आया नारी। उसकी चीतल की चित्र उत्तरीय थी, और कटि में एक बल्कल। एक सुन्दरी फूली लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरी हुई लटों में उलझी थी। कानों में छोटे छोटे सींग के टुकड़े झूल रहे थे; हाथों में बूढ़े हाथियों के पोले दाँतों के टुकड़े पड़े हुए थे। हाँ, वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और ठुड्ढी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अंग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—"देखो! आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी।"

"तब आज चलो, निपटा डालें।"

"हाँ, अभी चला।"

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने लगा, और स्त्री ने अपना, मठारे हुए चकमक पत्थर के फलवाला, भाला सम्हाला। वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ा किया था। भाला लेकर उसने पूछा—

"अभी चला? मैं भी तो चलूँगी।"

"नहीं, तुम क्या करोगी? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर सन्देह है?"

"छिः! परन्तु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी?"

"यहीं से मेरा खेल देखना।"

"क्यों, मुझे ले चलने में हिचकते क्यों हो?"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का खयाल है।"

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकती पर............"

" 'पर'......?—"

"मेरा जी डरता है।"

"क्यों?"

"तुम सुकुमारी हो।"

आद्या का मुँह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं, यह नये प्रकार की स्तुति थी। इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुदगुदा उठा।

उसने मुसकरा कर पूछा—"तो मैं क्या करूँ?"

"यहीं बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झंखाड़ लगाकर गुफा का मुँह और भी छिपाये देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रक्खी है। देखना—सावधान!"

"जाओ! जाओ! आज मुझे छलकर तुम मेरे आनन्द में बाधक हुए हो समझ लूँगी!"

"नहीं कहना मानो। हृदल आगा-पीछा करता है, नहीं तो..."

"अच्छा, लेकिन झंखाड़ लगाकर क्या करोगे? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई!" शक्ति ने मुसकरा दिया।

"तो चल"—कहकर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड़ लिया—"लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हें सजाऊँगी मैं ही। और, किसी दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।"

"नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो, वह जा रहा है—निकल न जाय।"

नारी ने उत्तेजना दी—"हाँ, लेना बढ़ के!"

पुरुष ने एक बार छाती फुलाकर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठाकर पुरुष की ओर देखा। वहीं तनकर खड़ा हो गया और पुरुष भी तूफ़ान की तरह उसकी ओर तीर सँधाते हुए बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था, कि चकमक के फलवाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्नन करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुनकर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ उठा।

इसी क्षण म्रियमाण सिंह दूसरे आक्रमण की तैयारी में था, कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही, सिंह ने अपने पंजों से अपना ही मुँह नोचते नोचते, फिर फेंकते फेंकते ऐंठते हुए, पुनः एक हलकी पछाड़ खाकर अपना दम तोड़ दिया।

* *

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधा शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी, आनन्द की कूकें लगा रही थी।

हाँ, उसी दिन अंतःपुर का आरम्भ हुआ था।

दीनों पर प्रेम

[लेखक—श्री वियोगी हरि]

हम नाम के ही आस्तिक हैं। हर बात में ईश्वर का तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊँची उपाधि पाई है। ईश्वर का एक नाम 'दीन-बन्धु' है। यदि हम वास्तव में आस्तिक हैं, ईश्वरभक्त हैं तो हमारा यह धर्म है दीनों को प्रेम से गले लगायें, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें। तभी न दीनबन्धु ईश्वर हम पर प्रसन्न होगा? पर ऐसा

हम कब करते हैं ? हम तो दीन-दुर्बलों को ठुकरा ठुकरा कर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान् के भक्त आज बने बैठे हैं। दीनबन्धु की ओट में हम दीनों का खासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय आस्तिक हैं हम ! न जाने क्या समझ कर हम अपने कल्पित ईश्वर का नाम दीनबन्धु रखे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नाम से उस लक्ष्मी-कान्त का स्मरण करते हैं—

दीननि देखि घिनात जे, नहिं दीननि सों काम।
कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु को नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है, कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण की मित्रता और प्रीति सुदामा नाम के एक दीन-दुर्बल ब्राह्मण से थी। यह भी सुना है, कि भगवान यदुराज ने महाराज दुर्योधन का अतुल आतिथ्य अस्वीकार कर बड़े प्रेम से गरीब बिदुर के यहाँ साग-भाजी का भोग लगाया था। पर यह बात चित्त पर कुछ बैठती नहीं है। रहा हो कभी ईश्वर का दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी बात है, कौन काटे ? पर हमारा भगवान्, दीनों का भगवान् नहीं है। हरे हरे ! वह उन घिनौनी कुटियों में रहने जायगा ? वह रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासन पर बिराजने वाला ईश्वर उन भुक्खड़ कंगालों के फटे फटे कम्बलों पर बैठने जायगा ? वह मालपुआ और मोहनभोग पानेवाला भगवान् उन भिखारियों की रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा ? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मन्दिरों में उन दीन-दुर्बलों को आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतों की छाया तक हम अपने खरीदे हुए खास ईश्वर पर न पड़ने देंगे। दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वर-भक्त होते सुने हैं ? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है ? ठहरो, ज़रा सुनो। वाह ! तब यह खूब रहा !

मैं ढूढ़ता तुझे था जब कुंज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

तो क्या हमारे श्रीलक्ष्मीनारायण जी "दरिद्र-नारायण" हैं ? इस

फ़कीर की सदा से तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रम में थे ! अच्छा, अमीरों के शाही महलों में वह पैर भी नहीं रखता !

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में !

हजरत खड़े भी कहाँ होने गये ।

बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था भुकता कहाँ चरन में ।

तो क्या उस दीन-बन्धु को अब यही मंजूर है कि हम अमीर लोग, धन-दौलत को लात मार कर उसकी खोज में दीन-हीनों की झोपड़ियों की ख़ाक छानते फिरें ।

× × ×

दीन-दुर्बलों को अपने असह्य अत्याचारों की चक्की में पीसनेवाला धनी परमात्मा के चरणों तक कैसे पहुँच सकता है । धनान्ध को स्वर्ग का द्वार दीखेगा ही नहीं । महात्मा ईसा का वचन सत्य है—

"यदि तू सिद्ध पुरुष होना चाहता है, तो जा, जो कुछ धन दौलत तेरे पास हो, वह सब बेचकर कंगालों को दे दे । तुझे अपना खज़ाना स्वर्ग में सुरक्षित रखा मिलेगा । तब आ और मेरा अनुयायी हो जा । मैं तुझ से सच कहता हूँ, कि धनवान् के स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद में निकल जाना कहीं आसान है । सहजोबाई भी यही बात कह रही है—

बड़ा न जाने पाइहै साहिब के दरबार ।
द्वारे ही सूँ लागिहै 'सहजो' मोटी मार ॥'

किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल बंशी बजाता मिलेगा । वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो । जेठ बैसाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूंदों में उस प्यारे राम को देखो । दीन-दुर्बलों की निराशा-भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को

देखो। किसी धूल भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित पददलित अछूत की छाया में उस लीला-बिहारी को देखो।

+ + +

तुम न जाने उसे कहाँ खोज रहे हो! अरे भाई, यहाँ वह कहाँ मिलेगा! इन मन्दिरों में वह राम न मिलेगा। इन मसजिदों में अल्लाह का दीदार मुश्किल है। इन गिरजों में कहाँ परमात्मा का वास है! इन तीर्थों में वह मालिक रमने का नहीं। गाने-बजाने से भी वह रीझने का नहीं। अरे, इन सब चटक मटक में वह कहाँ? वह तो दुखियों की आह में मिलेगा। ग़रीबों की भूख में मिलेगा। दीनों के दुःख में मिलेगा। सो वहाँ तुम खोजने जाते नहीं। यहाँ व्यर्थ फिरते हो!

दीनबन्धु का निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन दुर्बल का दिल दुखाना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीन को सताना सबसे भारी धर्म-विद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्म-कर्मों को भस्मसात् कर देनेवाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है—

"दुखिया जनि कोइ दूखिए, दुखियै अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकाररिहै, सब गुड़ माटी होय॥"

दीनों को सताकर, उसकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा, कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा! ग़रीब की आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

'तुलसी' हाय गरीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरी खाल की स्वांस सों, लोह भसम ह्वै जाय॥

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दय कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दया का आगार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो

जाता है। दीन की मर्म भेदिनी आह में उस पागल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाज़ा दीन हीनों के लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार उस दीन-प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है, दीनों का हृदय दीनबन्धु भगवान का मन्दिर है और भगवान् का हृदय प्रेमी का वास-स्थान है। प्रेमी के हृद्देश में दरिद्रनारायण ही एक-मात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्रसेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। दीन-दयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है; भक्त है और प्रेमी है। दीन दुखियों के दर्द का मर्मी ही महात्मा है। ग़रीब की पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है। कबीर ने कहा है—

'कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर-पीर न जानई, सो काफ़िर बेपीर ॥

मुण्डमाल

[लेखक—बाबू शिवपूजन सहाय जी]

आज उदयपुर के चौक में चारो ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है। मालूम होता है कि, किसी ने यहाँ के कुओं में उमंग की भंग घोल दी है। नवयुवकों की मूँछों में ऐंठ भरी हुई है। आँखों में ललाई छा गयी है। सब की पगड़ी पर देशानुराग की कलँगी लगी हुई है। हर तरफ़ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रणभेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है। उदयपुर की धरती, धौंसे की धुधुकार से डगमग कर रही है। रणरोष से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं। मतवाले हाथी हर ओर से, काले मेघ की तरह, उमड़े चले आते हैं। घंटों की आवाज़ से समूचा नगर गूँजरहा है। शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्दों से दसों दिशाएँ भरस-शब्द-मयी

ही राणा जी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिये रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही; परन्तु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं। फिर कभी भर नज़र तुम्हारे चन्द्र-बदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन मनाकर, जीजान से लड़ेंगे। हजारों हमले हड़प जायँगे। समुद्र सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज न हारेंगे। फौलाद सी फौज को भी फ़ौरन फ़ाड़ डालेंगे। हिम्मत तो हज़ार गुनी है; मगर मुगलों की मुठभेड़ में महज़ मुट्ठी भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँध कर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्जे पुर्जे कट जायँगे प्राणेश्वरी! किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि, तुम सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने आयी हैं। अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है। किस्मत की करामात है! एक ही गोटी में सारा खेल मात है! किसे मालूम था कि एक तुम सी अनूपरूपा कोमलाङ्गी के भाग्य में ऐसा भयंकर लेख होगा! अचानक रंग में भंग होने की आशा कभी सपने में भी न थी। किन्तु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति देकर क्षत्रियों को अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ी रानी, हृदय पर हाथ धर कर, बोलीं—प्राणनाथ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिये, लड़ने जाने के समय सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आपके समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात मनोहर सुख के फन्दे में फँस कर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिए। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त होकर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिए, मेरा मोह-छोह छोड़ दीजिए। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिये सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य महिलाओं के लिये समस्त संसार की सारी सम्पत्तियाँ

से बढ़ कर "सतीत्व ही अमूल्य धन है !" जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरवली-शिखर के ऊँचे मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी ने वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिये कर्त्तव्य पालन से विमुख कर दिया होता तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-वधूटी उत्तरादेवी ने यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयंकर बन्धन में जकड़ दिया होता तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्रगण्य होते? मैं समझती हूँ कि, यदि तारा की बात मान कर बाली भी, घर के कोने में मुँह छिपा कर डरपोक जैसा छिपा हुआ, रह गया होता तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सती शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवायी जरूर; लेकिन उसने जो कीर्ति की और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त मांस का शरीर अमर नहीं होता; बल्कि उनका उज्ज्वल यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्पलतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिये शुद्ध गंगा-जल से भी बढ़कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिये रण-भूमि में नरमण्डल की सी होली मचानेवाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सहगामिनी है। आप सच्चे राजपूत वीर हैं इसलिये सोत्साह जाइए और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य पालन कीजिये। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूंगी तो शीघ्र ही आप से स्वर्ग में जा मिलूँगी। अब विशेष विलम्ब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावत जी का चित्त हाड़ी रानी के हृदयरूपी हीरे को परखकर पुलकित हो उठा। प्रफुल्लित मन से चूड़ावत जी ने रानी को बार बार गले से लगाया। मानो वे उच्च भावों से भरे हुए, हाड़ी रानी के हृदय-पारस के स्पर्श से अपना लौहकर्कश हृदय सुवर्णमय बना रहे हों। सचमुच, ऐसे ही हृदयों के आलिङ्गन से मिट्टी की काया भी कंचन की हो जाती है। चूड़ावत जी आप से आप कह

उठे—'धन्य देवि !' तुम्हारे विराजने के लिये वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा अब हम मरकर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी ! कहीं ऐसा न हो कि—" (कंठ गद्‌गद् हो गया)।

रानी ने फिर उन्हें आलिङ्गित करके कहा—"प्राण प्यारे ! इतना अवश्य याद रखिये कि, छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में सम्भवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय; पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।"

चूड़ावत जी प्रेम-भरी नज़रों से एकटक रानी की ओर देखते देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गयीं।

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज़ घनी होती जा रही है घोड़े फड़ककर अड़ रहे हैं। चूड़ावत जी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन-ललाम रण-रस में पगे हैं।

उधर रानी विचार कर रही हैं—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझसे ही यदि लगा रहेगा तो विजय लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरङ्ग में रानी डूबती उतराती हैं। तब तक चूड़ावतजी का अन्तिम संवाद लेकर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—"चूड़ावतजी चिन्ह चाहते हैं—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। सन्तोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिए। उन्होंने कहा है कि, "तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठकर इसे रणभूमि की ओर लिये जा रही है हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़ कर जा रहे हैं।"

स्नेह सूचक संवाद सुन कर रानी अपने मन में विचार रही है—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही वे कृतकार्य नहीं होंगे।" इतना सोचकर बोलीं, "अच्छा खड़ा रह, मेरा सिर लिये जा।"

जब तक सेवक 'हाँ ! हाँ !' कहकर चिल्ला उठता है, तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लच्छेदार केशों वाला मुण्ड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के संगमर्मरी फर्श को सती-रक्त से सींचकर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह "दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिन्ह" काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि, कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्से में चीरकर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए सुन्दर शीश को गले में लटका लिया। मालूम हुआ मानों स्वयं भगवान रुद्रदेव भीषण वेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि, गले में काले नाग लिपट रहे हैं, या लम्बी लम्बी सटकार लटें हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर भर अञ्जली फूलों की वर्षा की। मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि की। बाजे गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ आकाश फाड़ने-वाला, एक गम्भीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—

"धन्य मुण्डमाल !!!"

अवतार

[लेखक—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र']

अ

"हे प्रभो !" अत्याचार-पीड़ितों ने अपने पीड़ित प्राणों को केवल कंठ में एकत्र कर पुकारा—"तुम कहाँ हो ! जरा पृथ्वी के इस कोने की ओर तो अपने करुण-कटाक्ष फेरो। ज़रा हम दुखियों और गरीबों पर तो एक बार निगाह करो। ज़रा देखो तो ये चन्द उन्मत्त मतवाले तुम्हारी समता में कैसी

विकट विषमता के कुबीज बो रहे हैं। आह ! हमारे दुर्बल प्राणों को पापी आततायियों की प्रचण्ड पीड़ाएँ मारे डालती हैं। तुम ऐसे गाढ़े मौके पर कहाँ हो स्वामी ! आओ, आओ ! और हमें अत्याचार के आतंकी आक्रमणों से बचाओ !'

"हे सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे !" भक्त साधुओं ने गम्भीर गुहार दी—"वर्त्तमान जगत् नास्तिकता की ओर बढ़ा जा रहा है। बढ़ा जा रहा है—तुम्हें और तुम्हारी श्रुतिविदित विभूति और विक्रम को बिसार कर ! और, वह क्यों न बढ़ा जाय ? जब लाख लाख पुकारने पर भी तुम नहीं पसीजते, नहीं बोलते—अपने जागरित अथवा अजागरित अस्तित्व का कुछ परिचय नहीं देते, तब लाचार होकर मनुष्यता के पीड़ित बच्चे तुम्हारे प्रति और तुम्हारे अस्तित्व के प्रति, नाम के प्रति धाम के प्रति विद्रोह करते हैं। आह ! इस देश के ये पीड़ित, ये भक्त, ये भावुक, ये भोले, कब से तुम्हें पुकार रहे हैं परमेश ! तुम क्यों नहीं पधारते ? तुम क्यों नहीं पधारते ?"

"भाई" अभागिनी अबलाओं ने काँपते कण्ठ से कराहकर कहा—"हमारी सुधि आप क्यों नहीं लेते ? आह ! क्या हम आपकी सृष्टि, आपकी सन्तान, नहीं हैं ? तो हमें आप ही की आधी कृति बली बनकर, ज्ञानी बनकर मदान्ध होकर क्यों नाशे डालती है ? क्यों खाए पचाए जाती है ? ये पशु ये पीड़क, ये पापी ये पुरुष हमें गोया आत्मवती मानते ही नहीं। हम सुकुमार क्या हो गईं इनके भोग की सामग्री हो गईं। हम सुन्दर क्या हो गईं इनकी असुन्दर वासनाओं की चेरी हो गईं। हम करुणामयी क्या हो गईं इनकी कठोरता की, क्रूरता की, कुकर्मों की क्रीड़ा-स्थली बन गई हैं। उफ़ ! हमारा तन पवित्र पुष्पों-सा; हमारा मन गंगा-जल सा; हमारा धन स्वर्ग-सा दला मला जा रहा है, अपवित्र किया जा रहा है, लूटा जा रहा है, नरक बनाया जा रहा है। हे विश्वसखे ! तुम कहाँ अलक्ष्य हो, किधर छिपे हो—क्यों मौन हो ? आओ, प्राण ? बचाओ, प्राण ?!

व

"पश्चात्ताप करो ? पश्चात्ताप करो।" उसी देश के किसी विख्यात

ज्ञानी ने अज्ञानियों और सत्ताधारी नरपशुओं को ललकार कर कहा—"हे मनुष्य के रूप में भेड़ियो ! शीघ्र से शीघ्र अपने पापों के लिए रो लो—क्योंकि अब 'वह' आने ही वाला है।

"हे पागलो ! यह समझकर न ऐंठे रहो कि तुम्हारी सहायता के लिए सेनाएँ हैं, ज्ञान को अज्ञान और अज्ञान को ज्ञान का वेश सजा देनेवाले धूर्त-तर्क-विद्या विभूषण हैं; बड़ी बड़ी विकराल ज्वाल-प्रसविनी तोपें हैं; शक्ति है, दण्ड है, ताप है, तेज है, रूप है, रंग है, बुद्धि है, पुरुषार्थ है। आह ! न भूलो इन क्षुद्र ऐहिक विभूतियों पर। इन्हें तो 'वह' इन जरौं से पैदा कर सकता है। हाँ, हाँ विश्वास मानो ! वह जो तुम्हारे कर्मों का लेखा जाँचने के लिए आ रहा है, ऐसा प्रचण्ड पराक्रमी है।"

"हे मानवता के नीरस तरुओ ! सावधान हो जाओ—उसके आने के पूर्व ही—और हरे हो आओ कालिमा की काई धोकर ! फूल पड़ो, फल दो ! नहीं तो—मत भूलो ! उसकी वह लोह-कुल्हाड़ी तुम्हारी जड़ों ही पर जमी है। तुममें से जो कोई भी हरा न होगा, सरस न होगा, सफल न होगा, स-जीवन न होगा—वह टँगिआया जायगा, काटा जायगा, निमूला जायगा और नरक के भाड़ में डालकर युगयुगान्तरों तक जलाया जायगा।"

"अस्तु, हे दुनियावी सुफैदी के परदे में रेंगनेवाले काले साँपो ! शीतल जल की तरह मेरे इस मंत्र को अभी से मान लो तथा केंचुल के भीतर भी उज्ज्वल बनो ! और नहीं तो 'वह आता ही है। वह ठण्ढा नहीं, आग है, मन्त्र नहीं, अभिशाप है; शान्ति नहीं; क्रान्ति है—युद्ध है। वह तुम्हें धुआँ से, चिनगारियों से, गर्म गंधक से, लावा से और आग की लपटों से शुद्ध करेगा।

"पश्चात्ताप करो ! पश्चात्ताप करो !! हे शक्ति के मतवालो पश्चात्ताप करो, क्योंकि वह आने ही वाला है।"

ता

जिस देशके अवतार की यह कथा है, उस देश पर उन दिनों विदेशी विजेताओं का शासन था। वह विदेशी नर नहीं, नराधम थे। नर-पशु थे।

उस देश के परतन्त्र प्राणियों की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाकर वे उन्हें भाँति भाँति की यातनाओं से पीड़ित करते थे। उनके छोटे-बड़े गाढ़ियों और कोड़ियों 'करों' का विस्तार ऐसा विकट था कि प्रजा त्राहि-त्राहि पुकार रही थी। विदेशी शासक और उनकी मेशीन के स्वदेशी विदेशी पुर्जे उस देश के गरीबों को बात बात में ऐसा पीसते थे कि देखने सुननेवाले दाँतों अँगुली दबाकर रह जाते थे।

इसी से तो वहाँ वाले रह-रहकर गरीब हृदय से, पवित्र मन से, उस 'आनेवाले' को पुकार रहे थे। और इसी से तो उनकी पुकार सुनकर 'वह' आया था। हाँ, हाँ वह आया था! इतिहास तो यही गवाही दे रहे हैं।

वह आया था, बड़े बड़े महलों में नहीं, और न भयानक दुर्गों में; क्योंकि उस समय के दुर्ग और महल अत्याचारों के अड्डे थे। भला ऐसे अपवित्र स्थान में वह कैसे आता?

वह आया था, सुवर्ण-सज्जित, मारबल-मण्डित देवमन्दिरों, पूजा-स्थानों और मठों में नहीं, क्योंकि उस समय के वे पूजा-स्थान भी वेश्यालयों से कम नहीं थे। देवता, देवता नहीं पत्थर थे। उपासक, उपासक नहीं कामी कीड़े थे—भला उनके बीच में वह कैसे आता।

वह आया था; एक दुनियाँ की झोपड़ी में, एक भूखी, सताई और गरीब जननी के गर्भ-मन्दिर में, एक दुनियाँ के थपेड़ों से पागल पिता के आँगन में।

वह बालपन से ही तेजस्वी, धीमान्, दयालु, वीर सुन्दर और नक्षत्रवान् सा मालूम पड़ता था। किशोरावस्था तक पहुँचते पहुँचते तो उसके घर के पड़ोसी आँखें फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगे कि वह अवश्य कोई असाधारण प्राणी है। उसको सभी प्यार करते थे। उसको सभी 'अपना' मानना चाहते थे। उसकी एक मुसकान, एक दया-दृष्टि के सभी आकांक्षी थे।

वह उस समय के विद्यालयों में, ज्ञान लोभ में, अधिक काल तक माथा-पच्ची नहीं करता रहा। कुछ घंटे क-ख और चन्द दिनों तक कर्त्ताकर्म की कथा सुनते ही मानों भगवती शारदा की ज्ञान-वीणा के सारे तार उसके

अन्तःसंसार में झंकार कर उठे। देखते देखते वह ऐसा ज्ञानागार हो गया कि बड़े बड़े ज्ञानी उसकी ज्ञानवार्ता सुनकर दंग हो गये—ठगे से रह गये।

वह जवान क्या हुआ, मानो परतन्त्रों का वह विस्तृत राष्ट्र उसके साथ साथ यौवनमय हो उठा। स्वदेश की दुर्दशा और मनुष्यों की नीचता देखते ही वह न्याय, सहानुभूति, त्याग और बलिदान के लिए पुकार पड़ा—

"हे दलित देश के बन्धुओ! जागो, उठो, विद्रोह करो, और आतता-यियों को यह बता दो कि मनुष्य पर मनुष्य को जबरदस्ती शासन या अत्या-चार करने का कोई भी अधिकार नहीं है।

"सत्य चिरन्तन के जन्मजात वीर बालको! अरे तुम अपनी आत्मा की ओर देखो—शरीर की ओर नहीं। शरीर तो नाशमान है, मगर, यह आत्मा तुम्हारी अमर है। इसे कोई नहीं मार सकता। फिर उठो! और उठो! जागो और जागो! तथा विद्रोह करो इन भूले पागलों के विरुद्ध, जो आत्मा की गद्दी पर अपने शरीरों को सँवारे बैठे हैं। ये मिथ्या मार्ग पर हैं, भूले हैं—इनके असत् और भूल का सर्वनाश होगा ही; बशर्ते कि तुम सत्य पर सावधानी से डटे रहो।

"अतः आओ! अपनी आँखों में ज्ञान का अंजन आँजकर, सत्य का वर्म-चर्म पहनकर त्याग का मुकुट धारणकर और बलिदान का शस्त्र हाथ में लेकर! विद्रोह करो इन मनुष्यता के भूले पागलों के विरुद्ध। परमात्मा का और आत्मा का सन्देश घर घर पहुँचाओ, परतन्त्रता की बेड़ी काटो—स्वा-धीन बनो! हे अमर मनुष्यता के स्वर्ग-दुर्लभ सैनिको!"

आह! उसकी वह पुकार क्या थी उस पीड़ित देश के एक प्राणी के पवित्र मन की प्रतिध्वनि थी देखते देखते उस देश के लक्षाधिक बालक, युवा, नर, नारी उसके विद्रोही झण्डे के नीचे आ खड़े हुए।

सत्ताधारी अत्याचारियों का अविचारी शासन-यन्त्र काँपने लगा।

२

मगर आह! आदमी भी कैसा अनोखा अजायब-घर है। इस एक ही ज्ञानी पशु के भीतर अनेक विरोधी भावों की दुकानें एक साथ ही लगी रहती

है ! यह क्या कहता है, क्या समझता है और क्या चाहता है—इसका पता लगाना, आदमी तो आदमी, परमात्मा के लिए भी सम्भव नहीं। यह विपत्ति पड़ने पर, अवतार अवतार बराबर पुकारता है; पर जब अवतार इसके बीच में ईश्वर के वरदान की तरह आता है तब यह उसे पहचानता ही नहीं।

ज्यों ज्यों उस गरीब की झोपड़ी के चिराग का महत्व और दल बढ़ने लगा त्यों त्यों उसके विरोधी भी बढ़ने लगे। उसके विरुद्ध उस देश के विदेशी शासक तो हुए ही, साथ ही अनेक स्वदेशी ज्ञानी भी हुए। किसी ने कहा—"वाह ! यह अवतार है। जरा इसका मुंह तो देखो न पढ़ा, न लिखा, न राजा, न सेनापति, न व्यवस्थापक, न विचारक—भला यह महापुरुष कैसे हो सकता है। अरे, सावधान ! यह विदेशियों का गुप्तचर है। प्रजा को उभाड़कर उसे राजा की क्रोधाग्नि में भुनवाना चाहता है। होशियार—हे विद्रोह की ओर बढ़नेवालो ! यह अवतार नहीं—भण्ड है, भण्ड।"

यही अमीरों ने कहा, यही विद्वानों ने कहा, यही महन्तों ने कहा और यही उन सबके मालिकों—विदेशियों ने कहा।

मगर गरीबों ने, भलों ने, श्रद्धालुओं ने तो उसे पहचाना था। वे बराबर उसकी बातें मानते रहे, उसके उपदेश सुनते रहे, उसका दल बढ़ाते रहे और विद्रोह का सन्देश चारों ओर फैलाते रहे।

आखिर सत्ताधारी पागल बिगड़े। उन्होंने उसके विरुद्ध यह या वह अपराध लगाकर उसी देश के और उसी रंग के जासूसों और गुलाम सैनिकों की सहायता से एक दिन उसे बाँध लिया। बाँध लिया राजा के विरुद्ध विद्रोह-प्रचार करने के अपराध में। उसकी गिरफ्तारी के पूर्व उसके सहस्राधिक भक्त बिगड़े, सत्ताधारियों की सेना के विरुद्ध। फिर क्या था पागलों को माँगी मुराद मिली। भूखे सैनिक कुत्ते भीड़ पर ललकार दिये गये और सैकड़ों गरीब, निरीह, सच्चे प्राणी तलवारों के घाट उतार दिये गये।

"आयँ !!" मूर्खों ने मन ही मन कहा—"हमारे बच्चे सत्ताधारियों द्वारा पीस डाले गये। हमारे भाइयों की गर्दनें काट डाली गईं। हमारी माताएँ और बहनें बेइज्जत की गईं—'वह' स्वयं बाँध लिया गया और इतने

पर भी न आग लगी और न धुँआ फैला। यह कैसा अवतार है भाई! कौन कहता है वह अवतार है। वह तो सचमुच भण्ड ही निकला—आँच पर चढ़ने पर खरा सोना न निकलकर धोका साबित हुआ। मारो इसे, नाश हो इस ढोंगी महापुरुष का—यह तो ठीक जासूस मालूम पड़ता है।"

पाप का नाटक खेलने के बाद सत्ताधारियों ने ललकारा—"फाँसी का तख्ता सजाओ, हैमलाक लाओ, क्रूस मँगाओ, जल्लाद को बुलाओ। आज उस ढोंगी की जीवनी का अन्तिम पृष्ठ लिखा जायगा जो महामहिम सम्राट के विरुद्ध बगावत कर रहा था! जो अपने को अवतार कहकर प्रजा को राजा—पवित्र देवता—के विरुद्ध उभाड़ रहा था। आज देखा जायगा—कि यह कैसा अवतारी प्राणी है।"

वह बधिक द्वारा फाँसी के तख्ता पर चढ़ा दिया गया। उसके चारों ओर मूर्ख जनता की भीड़ सरकारी गोयंदों द्वारा जुटाई गई थी। इस लिए कि राजा से विरुद्ध बगावत करने का दंड देखकर लोग ठण्ढे पड़ जाँय। फिर कभी किसी को अवतार मानकर, शासन के विरुद्ध विद्रोह करने की हिम्मत न करें।

उसे असहायों की तरह, फाँसी के तख्ते पर निहार—मनुष्य को जादूगर के रूप में देखकर सन्तोष चाहनेवाली—जनता क्रोध से पागल हो उठी। क्योंकि उसी के मन्त्र के कारण तो उनके घरों में सत्ताधारियों द्वारा आग लगाई गई थी। उसी के पाप से तो उन मूर्खों के परिवारी मारे, काटे और जलाये गये थे। ओह! वह पक्का नीच था। कौन कह सकता है कि वह अवतार था।

क्रोध से पागल जन-मण्डली ने उस गरीब के लाल के मुँह पर थूका—"ले तू इसी का पात्र है! पापी कहीं का—तू अवतार बनने चला था!!" क्षोभ से उन्मत्त मूर्खों ने उसे पत्थर से मारा, चाबुक से मारा, गालियाँ दीं और क्या क्या नहीं कहा।

मगर वह अन्त तक शान्त और मुस्कराता रहा। उसने कहा—भाई, मैं अवतार नहीं तुम्हारा भाई हूँ। तुम्हीं जिसे चाहो अवतार बना दो और

जिसे चाहो नाश के नरक में ढकेल दो। मगर भाई, मैं सच्चा हूँ, तुम्हारा सेवक हूँ। मैं आज भी कहता हूँ—न डरो किसी मनुष्य से; क्योंकि, वह केवल तुम्हारे शरीर का शासन कर सकता है, आत्मा का नहीं। मत मानो शासन किसी देही का, क्योंकि उसका शासन स्वर्ग का सम्वाद नहीं, नरक का निमन्त्रण है। मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। क्योंकि तुम भोले हो। तुम नहीं समझ रहे हो कि तुम क्या कर रहे हो। परमात्मा तुम्हें सुबुद्धि दे—तुम्हारा मंगल करे!"

+ + +

वह हँसते हँसते सूली पर चढ़ गया।

उफ़! इतिहासों से पूछो—और पूछो धर्म-ग्रन्थों से! वह तुम्हें बताएँगे कि सूली पर चढ़ जाने के बाद लोगों ने उस गरीब की झोपड़ी के चिराग को अपना नेता माना, उपदेशक माना, त्राता माना, अवतार माना, ईश्वर माना।

विद्रोह हुआ—उसके प्रस्थान के चन्द हफ़्तों बाद ही उस परतन्त्र देश में; और हुआ उन्हीं मूर्खों द्वारा जिन्होंने उस महान् के मुँह पर थूका था। सत्ताधारियों के रक्त से पृथ्वी लथपथ हो उठी और पृथ्वी के दर्पण में झाँक-कर आकाश के कपोल भी रक्त हो उठे। धूआँ उठा, चिनगारियाँ चमकीं, आग लगी, ज्वालामुखी फूटे—मगर कब? जब वह सूली पर टाँगकर 'अव-तार' बना दिया गया!

आह री दुनियाँ! हाय रे उसके समझदार बच्चे!!

साहित्य और सौन्दर्य-दर्शन

[लेखक—लक्ष्मीधर वाजपेयी]

उपनिषदों में कहा गया है कि आनन्द से ही सब जीव पैदा हुए हैं। आनन्द ही में जीते और आनन्द ही में समाते हैं। चाहे लौकिक आनन्द लीजिये और चाहे पारलौकिक—वह आनन्द कहाँ से पैदा होता है? वास्तव

में सौन्दर्य ही एक ऐसी चीज़ है जो हमको सदैव आनन्द देने वाली है। जब हम कोई सुन्दर चीज देखते हैं अथवा कोई सुन्दर आवाज सुनते हैं, तो हमारा चित्त उसकी ओर आकर्षित होता है और उससे हमको एक अपूर्व आनन्द होता है। हृदय में एक विलक्षण आह्लाद की लहरें उठने लगती हैं। एक प्रकार का आनन्दमय कम्पन होता है। कवि और दार्शनिकों ने इसको बहुत दूर तक देखा। अभिज्ञान शाकुन्तल में महाकवि कालिदास ने एक जगह राजा दुष्यन्त की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा है:—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

कोई सुन्दर वस्तु देखकर अथवा सुन्दर शब्द सुनकर सुखी प्राणी भी आनन्दोत्सुक हो उठते हैं। इसका कारण क्या है ? जान पड़ता है कि पूर्व-जन्म का उनका कोई प्रेम चला आता है; जो जन्मान्तर के कारण से कुछ विस्मृत सा हो गया था; परन्तु उसका भाव हृदय में अभी बना हुआ था; और अब उसी हार्दिक भाव में जब बाह्य सौन्दर्य की लहरें आकर टकराईं, तब वह प्रेम फिर जाग्रत होकर एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न हुआ—उत्सुकता पैदा हुई। गोस्वामी तुलसीदास जी ने, फुलवाड़ी में सीता जी का दर्शन करने के बाद श्री रामचन्द्र जी की मनोदशा का जो वर्णन किया है, उसमें भी इसी प्रकार के सौंदर्य-दर्शन की भावना है। फुलवाड़ी में सीता जी को देखने के पहिले श्रीरामचंद्र जी को आभूषणों की सिर्फ मधुर ध्वनि सुनाई दी थी। उसी से उनकी क्या दशा हो गई—

> कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि।
> कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥
> मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
> मनसा बिश्व-विजय कहँ कीन्हीं॥

अस कहि पुनि चितये तेहि ओरा।
सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा॥

\+ \+ \+

इसके बाद श्री रामचन्द्र जी मन ही मन सीता जी के सौन्दर्य की भावना करते हैं, और मन ही मन आश्चर्य में डूब कर लक्ष्मण जी से कहते हैं कि क्या कारण है, मेरा मन आज इस सौन्दर्य को देखकर चञ्चल हो रहा है—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारन जानु बिधाता।
फरकहिं सुभग अङ्ग सुनु भ्राता॥

इस प्रकरण के पहले ही गोस्वामी जी ने "प्रीति पुरातन लखै न कोई" कह कर यह इशारा कर दिया है कि सौन्दर्य को देख कर जहाँ ऐसा पवित्र प्रेम का आकर्षण होता है, वहाँ अवश्य पूर्व जन्म का कोई प्रेमभाव होना चाहिए।

अस्तु। इस प्रकार सौन्दर्य आश्चर्य आनन्द का कारण है सही; परंतु सौन्दर्य का बोध कराने के लिए आनन्द का भाव भी उतना ही अपेक्षित है। क्योंकि जब तक आनन्द का भाव नहीं होगा सौन्दर्य की कल्पना भी मनश्चक्षुओं के सम्मुख नहीं आयेगी। वीणा की मृदुमधुर झङ्कार, कर्णेन्द्रिय के द्वारा हृद्गत होकर, जब आनन्द-भावना जाग्रत करेगी, तभी उसके सौन्दर्य का बोध हमको होगा। इससे जान पड़ता है कि सौन्दर्य और आनन्द दोनों सापेक्ष भावनाएँ हैं। सचमुच ही सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मरूपी आनन्द से जब सब भूतों की उत्पत्ति हुई होगी, तब मनुष्य को अपने आस-पास की सहोदर सृष्टि को देख-देख कर अवश्य कौतूहल हुआ होगा; और आज भी हमको प्रकृति के चराचर दृश्यों को देखकर वैसा ही कौतूहल होता है। इस कौतूहल की भावना से ही हम प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य की कल्पना करते हैं।

यह सौंदर्य की कल्पना दो प्रकार की है—एक बाह्य सौंदर्य और

दूसरा आंतरिक सौंदर्य। दोनों प्रकार के सौंदर्य में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही सौंदर्य सब प्राणियों के लिए आकर्षक और आनंददायक हैं। यदि हम सौंदर्य में शाश्वतपन की भावना और श्रद्धा रक्खें, तो बाह्य सौंदर्य भी हमको स्थायी आनंद दे सकता है। बाह्य सौंदर्य से भी हम अपना शाश्वत संबंध स्थिर कर सकते हैं। मनुष्य की तो बात ही जाने दीजिए, पशु-पक्षी भी बाह्य सौंदर्य को देख कर एक शाश्वत आनंद का अनुभव करते हैं --मयूर मेघ-गर्जन को सुनकर आनंद-पुलकित हो नृत्य करने लगता है। मृग बंशी की मधुर ध्वनि सुनकर मुग्ध हो जाता है। पतंग दीपक के सौंदर्य पर अपने को न्योछावर कर देता है। सर्प केतकी गंध पर मुग्ध हो जाता है। चकोर पूर्णचंद्र की शोभा पर टकटकी लगाए रहता है। इसी प्रकार श्वान इत्यादि कुछ प्राणी भीतरी सौंदर्य को भी अनुभव कर सकते हैं। मार्ग में चलते हुए कुत्ते भी कभी कभी आपके पास आकर दुम हिलाते हुए आपको प्यार करने लगते हैं---तो क्या वे आपके बाहरी सौंदर्य को देखकर ही ऐसा करते हैं? नहीं। उनमें आंतरिक सौंदर्य का अनुभव करने की एक ऐसी भावना जाग्रत होती है कि जो उनको आप की ओर आकर्षित करती है। आप यदि भय शंका अथवा घृणा में आकर कुत्ते को दुत्कारते हैं, तो भ्रमवश आप उसकी उक्त "पुरातन प्रीति" को नहीं पहचानते; और यदि वह गुस्से में आकर आप की ओर भौंकता हुआ दौड़ता है, तब भी आप उसके प्रति अपनी "पुरातन प्रीति" का प्रयोग नहीं करते और यदि आप अपने आंतरिक सौंदर्य अर्थात् पूर्ण प्रेम का सम्पूर्णतया उस पर प्रयोग करें, तो वह बहुत जल्द आप का प्रेमी मित्र बन जायगा। सिंह, सर्प इत्यादि हिंस्र जन्तु भी इस आंतरिक सौंदर्य को पहचानते हैं। जिन ऋषि-मुनियों का आन्तरिक सौन्दर्य पूर्णता को प्राप्त होता है, हिंस्र जन्तु भी उनके आसपास प्रेम से खेलते रहते हैं।

मनुष्य प्राणी ब्रह्मा की रची हुई चराचर सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है और इसमें भीतरी बाहरी सौन्दर्य भी सब से अधिक है। सौन्दर्य-निरीक्षण की भावना और उसके अनुभव करने की शक्ति भी मनुष्य में सब से ज्यादा बढ़ी चढ़ी है। मनुष्य में यह भी शक्ति है कि सौन्दर्य का बोध करके वह उसमें

शाश्वत आनन्द का अनुभव करे। नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के बाह्य सौन्दर्य को देखकर—भी प्रेम, दया, कृतज्ञता, शक्ति, उपकार इत्यादि शाश्वत सौन्दर्य की भावनाएँ अपने हृदय में लाकर वह आनन्द प्राप्त कर सकता है और अपने अन्दर बाह्याभ्यान्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि भी कर सकता है। जैसे वाटिका अथवा तड़ागों में विकसे हुए पुष्पों को देखकर और उनके सौरभ का आघ्राण करके स्वाभाविक ही हमारे हृदय में स्नेह का विकास होता है। उगते हुए सूर्य अथवा उत्तुङ्ग शिखरों के बीच से बहती हुई गंगा के भव्य दृश्य का सौन्दर्य देखकर स्वाभाविक ही हमारे हृदय में भक्ति का उदय होता है। विस्तृत नील आकाश मण्डल अथवा पारावार सागर का सौंदर्य देखकर हमारे हृदय में विशालता का समावेश होता है। संगीत-स्वर के सौंदर्य से हमारे हृदय में प्रेम का सञ्चार होता है। इस प्रकार जड़ सृष्टि के सौंदर्य में भी एक व्यापक और शाश्वत आनन्द भरा हुआ है।

परन्तु कुछ दार्शनिकों के मत से उपयोगिता का भी सौंदर्य से बहुत सम्बन्ध है। निरुपयोगी चीज चाहे जितनी सौंदर्यशाली हो, पर प्रायः उसमें सौंदर्य की भावना हमको नहीं होती। इन्द्रायण के फल को केवल दृष्टान्त के लिए ही हम सुन्दर मानते हैं। किंशुक के पुष्प में हम इतनी ही सुन्दरता मानते हैं कि वह हमारी आँखों को थोड़ा सा अच्छा दिखाई देता है और उससे पीला रंग निकलता है। इसके विरुद्ध दूसरे फल और फूलों को लीजिए, जिनमें सुगन्ध और माधुर्य इत्यादि के गुण हैं, वह हमारी दृष्टि में सौंदर्य के आदर्श हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक साक्रेटीस कोयले को सुन्दर मानता है, क्योंकि वह उसको बहुत उपयोगी समझता है। वह सौंदर्य का विचार नैतिक दृष्टि से करता है, और किसी भी चीज़ को इस कारण सुन्दर नहीं बतलाता कि वह सुन्दर दिखाई देती है; बल्कि उसके गुणों को देखकर उसमें सुन्दरता का आरोप करता है परंतु आजकल लोग कला की दृष्टि से सौंदर्य को देखने लगे हैं और पश्चिमी देशों में तो स्त्रियों की भी सौंदर्य-प्रदर्शिनी होने लगी है। कला विशेषज्ञ जिस सुन्दरी को सर्वश्रेष्ठ निश्चित करते हैं, उसको बढ़िया इनाम मिलता है।

सौंदर्य के विषय में पूर्वीय और पश्चिमीय दृष्टिकोण कुछ भिन्न भिन्न हैं। हमको यदि गुणमूलक भीतरी सौंदर्य के बिना सौंदर्य दिखाई नहीं देता, तो पश्चिमीय कलाभिज्ञों को बाहरी सौंदर्य के बिना संसार में सौंदर्य की कल्पना भी नहीं हो सकती। पर यदि हम बाह्य सौंदर्य में ही भटकते रहें, तो हम सौंदर्यगत शाश्वतता का अनुभव नहीं कर सकते। मान लीजिए कि हम किसी रमणी के सौंदर्य को देखकर मुग्ध होते हैं और हमारी इस मुग्धता में काम-जन्य वासना है, तो हमारे इस सौंदर्य दर्शन में शाश्वतता की भावना नहीं है। पश्चिमीय देशों में बाह्य सौंदर्य को देखकर ही मोहवश तरुण-तरुणी प्रेमपाश और विवाह-बन्धन में बँध जाते हैं, पर कालान्तर में उनकी सौन्दर्य की भावना नष्ट हो जाती है। भीतरी सौन्दर्य के अनुभव करने की उनकी शक्ति भी जाती रहती है। वे एक दूसरे के गुणों पर मुग्ध नहीं हो सकते। उनका गार्हस्थ्य जीवन दुःखमय हो जाता है और प्रायः विवाह-विच्छेद की ही नौबत आ जाती है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि स्त्री सौन्दर्य का अनुभव कामवासना के विचार के बिना हो नहीं सकता। सिर्फ एक इसी दृष्टि से पुरुष को स्त्री सुन्दर दिखाई देती है। सृष्टि-सौन्दर्य में पुष्प यदि हमको सुन्दर दिखाई देता है तो सिर्फ इस लिए कि उसका सौन्दर्य रमणी के मुख-कमल की तरह है। फूल की कलियों का आकार मृदुता और रंग इत्यादि सब नारी-सौन्दर्य के ही सदृश हैं, और इसी लिए फूल हमको प्यारा मालूम होता है। चन्द्रमा के सौन्दर्य की कल्पना भी कवियों को स्त्री के मुख-चन्द्र को देखकर ही हुई। जैसे एक कवि कहता है कि प्यारी का मुख-सौन्दर्य देखकर चन्द्रमा शंकित रहता है और इसी लिए उसका शरीर प्रति दीन क्षीण होता जाता है और उसके हृदय में कालिमा भी आगई है! दूसरा कवि कहता है कि चन्द्रमा उसके मुख की बराबरी क्या करेगा—कितने ही चन्द्र उसके पैरों (के नखों) में पड़े हैं! तीसरा कवि कहता है कि ब्रह्मा ने जब हमारी नायिका की सृष्टि की तब उसके मुख-सौन्दर्य को चन्द्रमा के सौन्दर्य से तौलने के लिये तुला पर रक्खा। चन्द्रमा का सौन्दर्य हलका होने से ऊपर उड़ गया और हमारी नायिका पृथ्वी पर आई! तुलसी दास जी ने तो सीता जी के मुख-सौन्दर्य की चन्द्रमा से

तुलना करते हुये अपूर्व कवि-कौशल प्रकट किया है:—

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख-समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक ॥

इत्यादि बहुत से काव्यालंकारों के साथ भिन्न भिन्न कवियों ने स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सौन्दर्य वर्णन किया है। सारांश यह है कि कवियों ने स्त्री सौन्दर्य को बहुत अधिक महत्व दिया है। कुछ लोगों की राय तो यह है कि सम्पूर्ण काव्य-साहित्य से यदि स्त्री का भीतरी बाहरी सौन्दर्य निकाल दिया जाय, तो कवित्व कुछ रह ही न जायगा !

यह पुरुषों का दृष्टिकोण हुआ; क्योंकि कई दार्शनिकों का ऐसा भी ख्याल है कि सौन्दर्य—और विशेषकर बाह्य सौन्दर्य—का अनुभव जितना पुरुष कर सकते हैं उतना स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। स्त्रियाँ सौन्दर्य पर उतना मुग्ध नहीं होतीं, जितना गुणों पर। सम्पूर्ण सृष्टि में स्त्रियाँ आन्तरिक सौन्दर्य का ही विशेष अनुभव करती हैं। इसी लिए स्त्रियों के द्वारा पुरुषों के सौन्दर्य का वर्णन प्रायः नहीं सुना जाता। उनके गुणों का, यानी आन्तरिक सौन्दर्य का, वर्णन ही स्त्रियाँ अधिकतर किया करती हैं। इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता उनको पहिले दिखाई देती है, उसका बाह्य सौन्दर्य पीछे। यदि यह बात सत्य है, तो कहना पड़ेगा कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य ही विशेष नहीं है, बल्कि आन्तरिक सौन्दर्य या दिव्य गुण भी अधिक मात्रा में हैं और पुरुषों की अपेक्षा वे ईश्वर के विशेष निकट हैं। इसी लिए अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की पूर्ण अधिष्ठात्री स्त्री-रूप देवी 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' ही मानी गई हैं। मायारूपी स्त्री की बैरागी कवि लोग चाहे जितना निन्दा करें; परन्तु ब्रह्म के सौंदर्य का अनुभव हम माया के बिना नहीं कर सकते हैं। अस्तु।

कवि और दार्शनिकों ने स्त्री को सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी माना है; इसका एक कारण यह भी है कि वह भावुकतामयी है और मानव-हृदय के सौंदर्य का उसमें सम्पूर्ण विकास हुआ है—प्रेम, करुणा, दया, स्नेह, सौहार्द, उपकार, कृतज्ञता, साहस, त्याग, सेवा, श्रद्धा, भक्ति, इत्यादि

मानव-हृदय के सौंदर्य हैं और इन गुणों का भाव जिस मात्रा में स्त्री जाति में पाया जाता है उस मात्रा में पुरुष जाति में नहीं। इसलिए साहित्य संगीत इत्यादि सब ललित कलाओं की जननी भी स्त्री ही को मानना चाहिए। राधा स्वकीया हो या परकीया; पर श्रीकृष्ण के साथ वह सब ललित कलाओं की जननी जरूर है। और सब ललित कलाओं से सौंदर्य का घनिष्ठ संबंध है। बिहारी का एक यही दोहा ले लीजिए:—

मेरी भव-बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय॥

इसमें बाह्य जगत् अर्थात् प्रकृति का सौंदर्य दिखलाकर कवि अन्त-र्जगत् के सौंदर्य की ओर हमको ले चलता है या नहीं? यदि 'प्रकृति' का सौंदर्य न हो, तो कला के द्वारा 'पुरुष' के सौंदर्य को हम कैसे देखें? हमको सौंदर्य का दर्शन कराने के लिए ही तो कला का जन्म हुआ है। वैदिक ऋषियों ने उषादेवी के रमणीय रूप का दिव्य सौंदर्य देखा सो कला की ही दृष्टि से और आज भी हम वैदिक मन्त्रों में वही सौंदर्य देख रहे हैं; सो भी कला की दृष्टि से; और प्रभात काल की उस सुंदर लालिमा का 'उषा' नाम रक्खा गया है सो भी कला की दृष्टि से। एजण्टा की गुफाओं का शिल्प-सौंदर्य, ताजमहल का कवित्व-पूर्ण शिल्पकौशल, शङ्कर का ताण्डव नृत्य, राधाकृष्ण का मुरलीवादन और रास-विलास, तानसेन और बैजू बावरे की संगीत-पटुता, मयासुर की शिल्प-रचना, राजकुमारी उषा का चित्र लेखन, व्यास, वाल्मीकि और कालिदास का वाग्विलास, इत्यादि सृष्टि-सौंदर्य और मानव-सौंदर्य का जितना कुछ साहित्य है, सब कलादेवी की ही कृपा का प्रसाद है। वर्तमान समय में विज्ञान ने कला के सच्चे स्वरूप को नष्ट कर दिया है, इस लिए सृष्टि-सौंदर्य या मानव-सौंदर्य का वह मनोरम स्वरूप अब नहीं रह गया है। उसकी जगह सर्वत्र एक बीभत्स स्वरूप दिखाई दे रहा है। वर्तमान समय में कला का झुकाव सौंदर्य की ओर नहीं है। कोई भी कला ले लीजिए, उसका झुकाव स्वार्थ या भौतिक आनन्द की ओर है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्"—जो सुंदर है वह सत्य और शिव भी होना चाहिए; अथवा

जो सत्य और शिव है वही सुन्दर भी है और संसार में उसी का ज्ञान हमको प्राप्त करना है।

यह दिव्य आदर्श आज कहाँ दिखाई देता है ? आज प्रत्येक कलाकार कोई विशेष उद्देश्य रखकर अपनी कला का उपयोग करता है और उसमें सौंदर्य प्रदर्शित करता है, पर सच्चे कलाकार का यह धर्म नहीं है। स्वाभाविक कलाकार अपने हृदय में जिस सौन्दर्य का अनुभव करता है, वह स्वयं स्फूर्ति से उसके द्वारा प्रदर्शित होता है। स्थापत्य, भास्कर्य, चित्रलेखन, संगीत और कविता किसी भी ललित कला को ले लीजिए, उसके सौंदर्य का आविर्भाव यदि स्वाभाविक रूप से कलाकार के हृदय में होता है; और यदि वह स्वाभाविक रूप से ही उस सौंदर्य को, उच्छ्वास में, प्रकट करता है—फिर चाहे वह वाणी से प्रकट करे अथवा कुंचिका से प्रकट करे अथवा अन्य किसी शिल्पसाधन से प्रकट करे—तो वही 'सत्य' और 'शिव' है। वह अवश्य ही शाश्वत, सुन्दर और कल्याण-कारक होगा। सृष्टि में जो कुछ भी भीतर और बाहर मधुर है, सुन्दर है और हृदय में सुखदायक अनुभूति का संचार करता है, वही सब ललित कलाओं का विषय है; परन्तु साहित्य (काव्यकला) और संगीत, ये ही दो कलाएँ ऐसी हैं, जो मानव-हृदय के सौंदर्य को सफलता-पूर्वक प्रदर्शित कर सकती हैं। हमारे हिन्दी साहित्य में सूरदास और तुलसी दास इन कलाओं के आदर्श-स्वरूप हैं—दोनों में साहित्य और संगीत का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

उक्त दोनो कवियों ने अपनी निज की अनुभूति से काव्य और संगीत-मय जो उद्गार स्वयंस्फूर्ति से निकाले हैं, उनमें सृष्टि-सौंदर्य के साथ ही साथ मानव-जगत् के अन्तः सौंदर्य का भी पूर्ण विकास दिखाई देता है। उनके शब्द उनके निजानन्द के हार्दिक उच्छ्वास हैं। बात यह है कि जब कवि का हृदय सौंदर्य और प्रेम से लबालब भर जाता है, तब उसके हृदय से सुन्दर उद्गार आप ही आप हठात् बाहर निकलने लगते हैं। भीतर-बाहर सम्पूर्ण सृष्टि उसको सौंदर्यमय दिखाई देने लगती है; और सृष्टि-निर्माण के कौशल पर कौतूहल और आनन्द में आकर आपही आप वह गाने लगता है:—

केसव, कहि न जाइ का कहिये !
देखत तव रचना विचित्र अति,
समुझि मनहि मन रहिये ॥केसव०॥

ये कवि के स्वाभाविक उद्गार सृष्टि के बाह्य सौंदर्य का आभास दिखला कर अन्तर्जगत् के शाश्वत सौंदर्य की ओर ले जाते हैं; और साहित्य में सच्चे सौंदर्य-दर्शन का यही एक मुख्य लक्षण है।
